

आनन्द-संग्रह

[स्वामी सर्वदानन्द जी के प्रवचन]

राजपाल एन्ड सन्स
दिल्ली

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186585

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

Accession No.

Author

Title

This book should be returned on or before the date
last marked below.

आनन्द-संग्रह

वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी
महाराज के उत्तम उपदेश

सर्वोदय साहित्य मन्दिर
हुसैनीअलम रोड़, हैदराबाद (दक्षिण).

राजपाल एण्ड सन्ज

नई सड़क : देहली

एप्रिल

दो रुपया

प्रकाशक :—

विश्वनाथ, एम. ए.,

राजपाल एण्ड सन्ज,

नई सड़क, देहली ।

Checked 1965

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक :—

बालकृष्ण एम. ए.,

युगान्तर प्रेस,

मोरी गेट, देहली ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. संसार यात्रा	१४
२. सत्संग की महिमा	२६
३. यज्ञ की भावना	३८
४. ईश्वर-भक्ति	४७
५. सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो ?	५८
६. विवेक और वैराग्य	७१
७. ब्रह्मचर्य	८१
८. मनुष्य-जीवन की सफलता	८६
९. तप क्यों करें ?	९७
१०. मन कैसे वश में हो ?	१०२
११. धर्म पर आरुढ़ रहो	११०
१२. जीवन-यात्रा	११५
१३. धर्म के तीन आवश्यक अंग	१२८
१४. स्वाध्याय ही जीवन है	१३७
१५. उदारशील बनो	१४२
१६. अभ्यासी बनो	१४६
१७. विचारशील बनो	१५३

श्री स्वामी सर्वदानन्द जी का संचित जीवन-चरित्र

श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज अपने समय के एक आदर्श संन्यासी थे। त्याग का भाव जो एक सच्चे संन्यासी में होना चाहिये वह पूर्णरूप से इनमें विद्यमान था। उनकी न किसी से विशेष मित्रता थी, न किसी से द्वेष। उनका जीवन इस बात की साक्षी देता है कि उन्होंने राग और द्वेष को जीता हुआ था, कुटिलता और चतुराई इनसे कोसों दूर थी। निर्भयता जो एक सच्चे संन्यासी का विशेष गुण शास्त्रों ने बताया है वह इनमें पाई जाती थी। आर्यसमाज का प्रेम इनके रोम २ में रम रहा था। वृद्धावस्था में भी धार्मिक जोश में आर्यसमाज का कोई नवयुवक उपदेशक भी उनका मुकाबिला नहीं कर सकता था। यदि आज बम्बई से उनके व्याख्यान की रिपोर्ट आती थी, तो परसों पेशावर में गर्ज रहे थे। उनकी रातें रेल के सफ़र में कटतीं, और दिन उपदेशों में व्यतीत होते थे। उन्हें कभी यह ख्याल नहीं आया था कि अमुक जगह दूर है या अमुक जगह के सफ़र में कष्ट है। मान-अपमान के भाव को उन्होंने जीत लिया था।

छोटी-से-छोटी समाज के उत्सव पर जहाँ पचास या सौ से अधिक श्रोताओं की उपस्थिति नहीं हो सकती, वे बराबर व्याख्यान देने जाते थे। उनकी आवाज़ में इतनी गर्ज थी कि दस-पन्द्रह हजार के समूह में सब से अन्तिम पंक्ति में उपदेश सुनता हुआ पुरुष, जिसको स्वामी जी का चेहरा भी न दिखाई देता हो, नहीं कहता था कि यह किसी वृद्ध की आवाज़ है। उनके व्याख्यान बहुत सार-गर्भित पर साथ ही अत्यन्त सरल होते थे और प्रत्येक स्त्री-पुरुष की समझ में आ जाते थे, चाहे वह किसी मत से सम्बन्ध रखता हो। आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद उनकी आयु का बहुत-सा भाग संयुक्त प्रान्त में गुजरा और देर तक वही प्रान्त उनके कार्य का क्षेत्र रहा क्योंकि वह समझते थे कि इस प्रान्त में काम की अधिक आवश्यकता है।

जन्म

श्री स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज बजवाड़ा, जिला होशियारपुर के रहने वाले थे। उनका पहला नाम पं० मूलचन्द्र था। उनका जन्म एक ऐसे कुलीन ब्राह्मण घराने में हुआ जिसमें कई पीढ़ियों से हिकमत (वैद्यक) चली आई थी, इसी कारण स्वामी जी भी हकीम थे। जब तक गृहस्थाश्रम में रहे पौराणिक मत के अनुयायी रहे, शिव-

जी की पूजा बड़ी भक्ति और श्रद्धा से किया करते थे । बाग से स्वयं फूल लाते और एक २ करके शिवजी पर इस तरह चुनते कि सारा महादेव फूलों का दिखाई देता था । एक दिन जब दैनिक पूजा करने के लिए मन्दिर में गये तो क्या देखते हैं कि एक कुत्ता शिवजी की मूर्ति का, जिसको कल स्वामी जी अलंकृत करके गये थे, निरादर कर रहा है । मन को बड़ा दुःख हुआ, और उसी समय से संकल्प-विकल्प उठने लगे । उसी दिन से शिव-पूजा से ऐसी श्रद्धा उठी कि फिर कभी उस मन्दिर को नहीं देखा । मानो विचारों के परिवर्तन में स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज को वैसी ही घटना पेश आई जैसी महर्षि दयानन्द को शिवरात्री की रात पेश आई थी । वहाँ चूहा कारण बना था और यहाँ कुत्ता ।

शिव-मूर्ति का पूजन छूटा तो वेदान्त की ओर रुचि हो गई । हिक्मत के कारण कुछ तो पहिले ही अच्छी फ़ारसी जानते थे, अब फ़ारसी की अन्य पुस्तकें बोस्तां, मौलाना रूमी और बूअली कलंदर की मसनवियात आदि पढ़ने लगे, जिनसे वेदान्त के ग्रन्थों में उनकी अच्छी रुचि और प्रवृत्ति हो गई । फिर वेदान्त के अनुष्ठान करने का विचार उत्पन्न हुआ और इस विचार के उत्पन्न होते ही गृहस्थ को त्याग कर एक वेदान्ती संन्यासी से संन्यास

ग्रहण कर लिया। उस समय स्वामीजी की आयु ३२ वर्ष के लगभग थी।

संन्यासी के रूप में

संन्यास लेने के पश्चात् स्वामीजी तीर्थयात्रा को चले गये और चार वर्ष में समस्त तीर्थ कर डाले। अब वह वेदान्त में कुछ ऐसे मग्न हुए कि कई बार अपने आप को भी भूल जाया करते थे। एक बार अपने विचार में वह ऐसे लीन हुए कि तीन दिन तक समाधि लगी रही और कुछ खाया-पिया नहीं। भूख को सहन करने की शक्ति तीर्थ-यात्रा के समय बहुत बढ़ गई थी। जब द्वारिका से तीर्थ करके आये तो बड़े विकट जंगल में से गुज़रना पड़ा जहाँ पर खाने-पीने के लिये कुछ न मिलता था। कदाचित् तीन चार दिन के पश्चात् सिद्धेश्वर के पास जाकर जौ का आटा खाने को मिला, जिससे स्वामीजी ने भूख निवृत्त करने के लिये खा लिया। तीर्थयात्रा के सफ़र में एक आदमी ने कहा कि स्वामीजी अगर लड्डू-पेड़े खाने हैं तो उदयपुर के राज्य में जाओ, वहाँ साधु सन्तों का बहुत सत्कार होता है। मन में मौज आ गई और उसी ओर का रास्ता लिया। कुछ दिनों तक वहाँ रहे, फिर वहाँ से चल दिये और मथुरा के बाहर एक सेठ के मकान पर आकर ठहरे। स्वामीजी के साथ एक-दो अवधूत

महात्मा भी थे, वे भी इनकी तरह मस्तमौला रहा करते थे । एक अवधूत ने शहर में जाकर एक वैश्य को पकड़ लिया और कहा कि शहर के बाहर सन्त आये हैं, उनका सत्कार करो । वैश्य ने बड़े प्रेम से सन्तों को भोजन कराया । अगले दिन भी यह तीनों साधु मिलकर उस वैश्य के घर जा डटे और कहा भूख लग रही है, सन्तों को भोजन कराओ । आखिर उसको मानना पड़ा और इनको अपनी बैठक में बिठला दिया । अब लगे सन्त रोटी की इन्तज़ार करने, तीन घण्टे व्यतीत हो गये, कोई रोटी पूछने न आया । इन सन्त महात्माओं ने समझा कि आज तो वैश्य ने मज़ाक किया है, परन्तु थोड़ी देर के बाद एक आदमी ने आकर हाथ धुलाए और चला गया । फिर इन्तज़ार होने लगी और आपस में हँसी-ठट्टा करने लगे कि आज अच्छा सेठ मिला है । इतने में बड़े सुन्दर थाल तौलियों से ढके हुये आये और सन्तों के सामने रख कर नौकर भाग गया । सन्त सोचने लगे कि यह क्या बात है ? भूख तो लगी ही थी, तौलिया उठाकर देखा, तो देखा कि उसमें बहुत देर के सड़े-भुने चने हैं जिनमें सुसरी पड़ रही है । इस पर खूब हँसी उड़ी । इतने में वह वश्य भी ऊपर आया और कहा, महाराज ! मेरे नौकर से अपराध हुआ, मुझे क्षमा करें ।

सत्यार्थप्रकाश का चमत्कार

वेदान्त की मस्ती में ऐसी २ घटनाओं से पार होते हुए स्वामीजी चित्रकूट गए, और वहाँ पर कुछ मास ठहरे रहे। वहाँ सदियों के दिनों में यमुना के किनारे नंगे पड़े रहा करते थे। इन्हीं दिनों में उनको एक बीमारी लग गई जो अन्त तक कभी २ उनको सताया करती थी, अर्थात् छाती और कटि का दर्द। यहाँ स्वामीजी बड़े तप का जीवन व्यतीत करते थे। वह २४—२४ घंटे तक अपने विचारों में लीन रहा करते थे, भोजन का विचार आया और मिल गया तो खा लिया, नहीं तो मस्ती में बैठे हैं। एक बार कुछ बीमार हो गये। इसकी सूचना गाँव के एक ठाकुर को मिली जो स्वामीजीका सेवक था किन्तु धार्मिक विचारों में वह अपने इलाके में एक ही आर्यसमाजी था और स्वामीजी नवीन वेदान्ती थे। उसने आकर औषधि आदि द्वारा स्वामी जी की खूब सेवा-टहल की, जब निरोग हो गये तो मन में इच्छा हुई कि यहाँ से चले। अपने सेवक को मिलने को बुलाया, वह आते समय अपने साथ एक पुस्तक ले आया और पहले तो कुछ देर और ठहरने के लिये प्रबल इच्छा प्रकट की, किन्तु जब देखा कि नहीं मानते तो निवेदन किया कि महाराज ! यदि मेरी सेवा से आप प्रसन्न हैं तो इस पुस्तक को ग्रहण

कीजिये और यथासम्भव इसका आदि से अन्त तक अध्ययन करने की कृपा करें।

स्वामी जी ने पुस्तक को ले लिया जो कि बड़े सुन्दर रेशमी रूमाल में लपेटी थी और प्रतिज्ञा की कि वह इसको अवश्य पढ़ेंगे। यह कहकर वहाँ से गोरखपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में विचार आया कि देखें तो सही यह कौन-सी पुस्तक है जो हमारे भक्त ने इतने सुन्दर वस्त्र में लपेट कर दी है। खोल कर देखा तो वह आर्य-भाषा में सत्यार्थप्रकाश की एक सुन्दर प्रति थी। स्वामी जी ने इस पुस्तक का नाम सुना हुआ था और वह इससे अत्यन्त घृणा करते थे तथा नवीन वेदान्ती होने के कारण वह इस पुस्तक को देखना तक पसन्द न करते थे। किन्तु अपने सेवक को वचन दे चुके थे, इस लिये, और दूसरे यह भी मन में आया कि चलो देख तो लें इसमें क्या लिखा है—सत्यार्थप्रकाश को पढ़ना आरम्भ किया और प्रतिदिन निरन्तर पढ़ते रहे, जब तक इसको समाप्त न कर लिया। सत्यार्थप्रकाश का समाप्त करना था कि स्वामी जी कुछ और के और बन गये। अब नवीन-वेदान्त का भ्रम दूर हो गया। सत्यार्थप्रकाश के पाठ ने उनके जीवन में ऐसा चमत्कार दिखलाया कि जहाँ वह पहले पक्के वेदान्ती थे, वहाँ अब पक्के आर्य-

समाजी बन गये ।

आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में

अब मन में वैदिक धर्म के प्रचार की लग्न लग गई और झूठे मत-मतान्तरों का खण्डन आरम्भ कर दिया । किन्तु पूरे तौर पर वैदिक धर्म के ज्ञान के लिए संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । इसलिये संस्कृत और वैदिक साहित्य का अध्ययन आरम्भ कर दिया । जहाँ भी कोई योग्य पंडित मिला, वहाँ उससे पढ़ लिया । पाँच साल में सिद्धान्त-कौमुदी, न्याय, सांख्यकारिका, वेदान्त पर शंकर-भाष्य आदि पुस्तकें पढ़ लीं । इसके अनन्तर स्वामी जी ने समस्त अन्य ग्रन्थों और उपनिषदों का पाठ कर लिया । इस प्रकार वृद्धावस्था में बड़ी मेहनत और परिश्रम से संस्कृत और वैदिक साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और अन्त समय तक जब भी समय मिलता था अपनी योग्यता को बढ़ाने का यत्न किया करते थे ।

वैदिक-धर्म-प्रचार के लिये अपने में अच्छी योग्यता धारण कर के स्वामी जी २० वर्ष निरन्तर देश भर में वैदिक शिक्षा का प्रचार करते रहे । दिन और रात उन्हें वैदिक धर्म प्रचार की लग्न लगी रहती थी । बीमारी और तकलीफ के दिनों में भी उनकी आत्मा आर्यसमाजों

में ही घूमती रहती। आर्यसमाज में बहुत कम व्याख्यान-दाता ऐसे होंगे जो दो अढ़ाई घण्टे तक निरन्तर बोल सकते हों। कई २ स्थानों पर स्वामी जी को एक दिन में तीन २ बार बोलना पड़ता था। किन्तु उन्होंने कभी ना नहीं की। विकट से विकट और छोटी से छोटी जगह में स्वामी जी जाने को तैयार रहते थे यदि उन्हें जताया जावे कि वहाँ प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है।

अच्छूतों के लिये स्वामी जी के मन में अत्यन्त प्रेम था। उनको उठाने और उन्नत करने के लिये वह अपने हर व्याख्यान में कुछ न कुछ मिष्ट देते थे।

इनके व्याख्यान दिन प्रतिदिन सर्वप्रिय होते गये। आर्यसमाज में काम करने वालों की न्यूनता को अनुभव करके स्वामी जी ने हरदुआगंज, जिला अलीगढ़ में एक साधु-आश्रम खोल दिया जिसमें साधुओं की शिक्षा-दीक्षा का काम होता है। इस समय तक कई संन्यासी इस आश्रम से तैयार होकर आर्यसमाज का काम बड़ी सफलता से कर रहे हैं।

यह है स्वामी जी का संक्षिप्त शिक्षादायक जीवन-चरित्र। आशा है कि आर्य भाई इससे कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे !

संसार-यात्रा

संसार में जिस प्रकार यह बात स्वयंसिद्ध है कि जो यात्री अपने उद्दिष्ट स्थान की ओर मुँह किये हुए है, वह जितने पग सीधे उठाता है उतना ही वह अपने उद्दिष्ट स्थान के निकटतर होता जाता है, उसी प्रकार यह बात निर्विवाद है कि यदि उस यात्री का पग अपने उद्दिष्ट स्थान की ओर जाने के स्थान उल्टा पड़ जाय, तो वह जितने भी पग उठाएगा उतना ही उद्दिष्ट स्थान से दूर होता चला जायगा । ठीक यही अवस्था संसार-यात्रा में जीवात्मा की है । मनुष्य का ध्येय परमेश्वर है अथवा उसके सुख । जिस प्रकार यात्री अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का यत्न करता है, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है—प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा है । परन्तु इन सब प्रयत्नों और इच्छाओं के होते हुए भी वह परमेश्वर की प्राप्ति में असमर्थ रहता है, उसे सुख प्राप्त नहीं होता, इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि हम, परमेश्वर की प्राप्ति का जो मार्ग है, उस

से उल्टे जा रहे हैं, ठीक मार्ग से दूर जा रहे हैं। यही कारण है कि परमेश्वर और सुख की प्राप्ति के हमारे सम्पूर्ण प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। जितना हम सुख की प्राप्ति का यत्न करते हैं उतना ही वह दूर भागता है, और भागे क्यों न, सुख के पास तो हम तब पहुँचें जब सुख की ओर हमारा मुँह हो। जब सुख उसके विपरीत होगा तो फिर यही होगा कि—

सर्वे प्रयत्नाः शिथिला भवन्ति

सारे प्रयत्न निष्फल होंगे और एक समय हम इस अवस्था को देखेंगे कि हम सुख और परमेश्वर से बहुत ही दूर हो गये हैं। उस समय हमारी अवस्था उस मरणा-सन्न मनुष्य की सी होगी जो भूमि पर लेट रहा है और लोग आकर उसे पूछते हैं कि क्यों पण्डित महात्मा जी, आप हमें पहचानते हैं कि हम कौन हैं ? जब वह नहीं बोलता तो उस के पात्रों को हाथ लगाते हैं, नाड़ी देखते हैं। जब गति सर्वथा बन्द हो जाती है तो कहते हैं अब नहीं सुन सकता। ठीक ऐसी ही अवस्था जीवात्मा की परमेश्वर के मार्ग से उल्टा चलने पर हो जाती है। जीवित अवस्था में देखने की शक्ति मन के साथ मिलकर पहचानने का काम करती थी, अब उसका सम्बन्ध टूट जाने से देखने की शक्ति काम नहीं करती तथा श्रवण-शक्ति नष्ट

हो जाती है ।

मृत्यु के समय मन में चेतनता आ जाती है । जीवात्मा शरीर को छोड़ने के समय ऐसा क्यों करता है ? आपने देखा होगा कि जब कभी कोई बड़ा मनुष्य—कलक्टर व छोटा लाट-साहब—किसी स्थान से प्रस्थान करता है तो सहसा ही नहीं चल देते वरंच एक दो दिन तैयारियाँ करते हैं । पहिले बाहर आकर तम्बू लगाते हैं, मिलने वाले आकर उनसे मिल लेते हैं, सब आवश्यक वस्तुएँ तम्बू में एकत्र की जाती हैं, तब प्रस्थान आरम्भ होता है । इसी प्रकार जीवात्मा जब शरीर को छोड़ता है तो वह सम्पूर्ण शक्तियों को एकत्र करता है । कृष्ण भगवान् कहते हैं कि मृत्यु के समय अन्तःकरण जसी भावनाओं को देखता है उन्हीं से प्रभावित होता हुआ उसी ओर को रुख कर लेता है । आप दुकान पर बैठे हैं, आपके मन में भावना उत्पन्न हुई कि भवन में जाकर लैक्चर उपदेश सुनें, आप दुकान से उठकर भवन में आ गये । इसी प्रकार दूसरे मनुष्य के मन में विचार हुआ कि नदी पर चलें और वह नदी की ओर चल पड़ा । जिस प्रकार जीवित पुरुष अपनी भावनाओं से प्रेरित होता हुआ सब काम करता है, ठीक उसी प्रकार की क्रिया मृत्यु के समय होती है । जैसे विचार व भावनाएँ

उसके अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं, उनसे प्रभावित हुआ २ उधर ही चला जाता है।

यह मृत्यु का समय हमारे साथ भी सम्बन्ध रखता है। हम संसार में सदा रहने के लिये नहीं आए, हम को भी कभी इस संसार से विदा होना पड़ेगा। इसके पश्चात् हमारा उद्दिष्ट स्थान क्या है, यदि इस बात का हम को पता नहीं अथवा पता लगाने का हम यत्न नहीं करते तो हमारे समान भूला हुआ और कोई नहीं है। यदि किसी यात्री को पूछा जाय कि कहाँ जाते हो, वह उत्तर दे मुझे पता नहीं, तो इस अन्धाधुन्ध का भी कहीं ठिकाना है भला ? ऐसे यात्री को आप क्या कहेंगे, यही कहेंगे कि वह एक उन्मत्त मनुष्य है।

परमेश्वर हमारा उद्दिष्ट स्थान है। उसकी ओर जाने के लिये आवश्यक है कि हम उन बातों को न करें जो कि परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध हैं। यही ऋषि लोगों का नियम है। ऋषि उसे कहते हैं जिसने परमेश्वर को प्राप्त किया।

ऋषि, मनुष्य और राक्षस

ऋषि, मनुष्य और राक्षस में केवल इसी बात का अन्तर है; अन्यथा ऋषि के शरीर पर मोहर नहीं लगी होती, मनुष्य के सिर पर सींग नहीं होते और राक्षस के

हाथों पर कोई पहचान का चिन्ह नहीं लगा होता; केवल गुणों के भेद से ही मनुष्यों के यह तीन भेद कहे हैं। ऋषि उसको कहते हैं जो स्वार्थ से रहित होकर केवल सर्वसाधारण के हित के लिये ही काम करे, जिसका अपना प्रयोजन कुछ भी न हो, जिसका पुरुषार्थ केवल लोगों की भलाई के लिये हो। मनुष्य वह है जिसमें लोगों की भलाई के साथ अपना स्वार्थ भी हो। जिस के हृदय में इस नियम की धारणा हो कि मैं मनुष्य-समुदाय में रह आप भी सुखी रहूँ और लोगों को भी सुख पहुंचाऊँ; न उनसे मुझ को कोई दुःख पहुंचे और न मुझ से उनको; मेरा भी बने, उनका भी बने। राजस वह है जो अपना ही भला सोचे, दूसरों की हानि व लाभ का कोई विचार न हो। अब इन तीनों में से जो केवल लोगों की भलाई का विचार है वह सर्वोत्कृष्ट आदर्श है, परन्तु ऐसा होना कठिन है। यह विचार कि न अपना बिगड़े न दूसरे का, मध्यम विचार है जो कि उपरोक्त बात से सुगम है। इससे आगे तीसरा नम्बर स्वार्थ में गिना गया है और आजकल यह मात्रा ही बढ़ी हुई है। मेरा रस्सा जाए तो जाए परन्तु दूसरे की भैंस अवश्य मरे, यह भाव बढ़ा सुगम है। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य के चारों ओर वायुमण्डल छा रहा है, उसी

प्रकार चारों ओर यह बुराई का केन्द्र विद्यमान है। बुराई के लिये कोई तय्यारी की आवश्यकता नहीं है, इसी लिये तो परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवः ।

कान सुनने के लिये एक साधन है; जो बहरा है वह सुन नहीं सकता। एक नियम है कि जैसे को तैसा दीख पड़ता है, यह कुछ तो ठीक है और कुछ नहीं ठीक। दुष्ट जन को तो सारे दुष्ट ही दिखाई पड़ते हैं परन्तु यह ठीक नहीं कि भले सबको भले दीख पड़ें। जिस प्रकार जब मैं बहरे से बात करने लगता हूँ, तो बहरा जोर से बोलने लगता है, इसलिये कि उसको ऊँचा सुन पड़ता है, दूसरों को भी ऊँचा सुन पड़ता होगा। इसलिये बुरे मनुष्य के विचार में तो आ जाता है कि सब बुरे हैं। भला मनुष्य भले को भला और बुरे को बुरा समझता है इसलिये वह परमात्मा से प्रार्थना करता है कि 'हे परमेश्वर ! हम कानों से सदा कल्याण को ही सुनें, नेत्रों से सदा कल्याण को देखें, हे परमेश्वर ! हमारे सब अङ्ग दृढ़ रहें जिससे हम इस जगत् में भी सुखी रहें और परलोक में भी सुख पावें।' जब वेदमंत्र का ऐसा उपदेश है तो हमें जान पड़ता है कि इस प्रकार का सदाचारी बनने पर परमात्मा और सुख की प्राप्ति का एक मार्ग

तो मिलता है। अब सोचो कि वह मार्ग कौन-सा है ?

मन के साथ समस्त इन्द्रियों का सम्बन्ध है। यह सब मन के अधीन हैं, मन की उपस्थिति में यह सब काम करती हैं, और अनुपस्थिति में क्रियाशून्य रहती हैं। मन के संयोग न होने पर न कान सुन सकता है, न आँख देख सकती है। आप बाज़ार में किसी विचार में लीन हुए घूम रहे हैं, पीछे से आपको किसी ने बुलाया परन्तु आपने नहीं सुना क्योंकि आपका मन दूसरी ओर था। मन के बिना कोई इन्द्रिय काम नहीं करती। मन और इन्द्रियों के लिये मनुष्य बड़े कठिन से कठिन कर्म कर सकता है इसलिये मन को शुभ कर्मों में डालना तो उद्दिष्ट स्थान की ओर जाना है और उसे कुकर्मों में लगा देना अपने लक्ष्य से विपरीत चलना है। इस संसार में अन्याय हो रहा है ? परमात्मा किसी को भी दुःख नहीं देते वे तो सब को सुख ही देते हैं। सूर्य का काम तो प्रकाश व उष्णता देने का है, परन्तु एक पौदे पर तो उसके प्रकाश और उष्णता का यह प्रभाव पड़ता है कि वह सूख जाता है और दूसरा हरा-भरा हो जाता है तो क्या इसमें सूर्य का दोष है, कदापि नहीं; वरंच जिस पौदे की जड़ में जल और नमी है वह फूलता है और जो सूखा है वह प्रकाश और उष्णता को अनुकूल न पाकर

सुख जाता है। इसी प्रकार जो मन से सदैव भलाई की ओर जाता है, जिस अन्तःकरण में भलाई का बीज विद्यमान है, जो सच्चाई से प्रेम रखता है वह संसार में सुख प्राप्त करता है; और जिसमें बुराई और कपट भरा है वह उसी व्यवस्था के अनुसार दुःख उठाता चला जाता है।

आप फारसी की पुस्तकों को पढ़ें, अंग्रेज़ी और संस्कृत के ग्रन्थ देखें सब एकमत होकर किस बात का वर्णन करते हैं? सब का उद्देश्य एक ही है कि—

बुरे कर्मों से हटे रहो !

सब शास्त्रों की यही मर्यादा है, परन्तु संसार की दशा आजकल क्या है, दुःख से तो बचना चाहते हैं परन्तु दुःख के कारण को छोड़ना नहीं चाहते। सुख की प्राप्ति तो चाहते हैं परन्तु सुख के कारण को प्राप्त नहीं करते। कर्म तो करते हैं दुःख-प्राप्ति के, परन्तु चाहते हैं सुख, यह कैसे होगा ? इसलिये जो मनुष्य बुरे कर्मों से हट जाता है वही सुख पा सकता है, और दूसरों के भी कल्याण का हेतु होता है। क्योंकि वह मनुष्य जिस सोसाइटी में रहता है और जो वस्तु उसके पास होगी वही बाँटेगा। यदि बुराई उसके पास होगी तो वह सोसाइटी में बुराई फैलाएगा और यदि भलाई है तो भलाई

फैलाएगा । यह भी नहीं हो सकता कि वह दूसरों के साथ बुराई करे और उनसे आशा भलाई की रखे । लुकमान से उसके स्वामी ने कहा कि गोहूँ खेत में बो दो, उसने जाकर बाजरा बो दिया । स्वामी ने कहा कि बाजरा बोकर गोहूँ कैसे उगेगा ? तो लुकमान ने उत्तर दिया, 'श्रीमान् ! यदि बाजरे के बीज से गोहूँ नहीं उत्पन्न हो सकता तो आप बुराई का बीज बोकर भलाई की आशा कैसे रखते हैं ?' आपके मन में अथवा मेरे मन में यह विचार आ सकता है कि हम तो कोई बुराई नहीं करते, यह क्यों ? इसलिए कि मुझे अपना दोष प्रतीत नहीं होता । सच्चे मार्ग पर आने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी बुराइयों को जाने, अन्यथा छोटी २ बुराइयों का भी लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ता है ।

इसलिये हे मनुष्य ! तू अपने दोषों पर दृष्टि डाल । निर्बलता को समझने की प्रकृति डाल, यह धार्मिक ग्रन्थों का उपदेश है । परन्तु हम अपनी दुर्बलता को ही बल समझ बैठे हैं । दुर्बलता भारतवर्ष की प्रकृति में मिल गई है । ज्यों-ज्यों भारतवर्ष दुर्बल होता जाता है त्यों-त्यों ही दुबलापन एक फ्रैशन बनता चला जाता है, यदि हम दुर्बलता को अपना भूषण समझ लेंगे तो हम उसको क्योंकर छोड़ सकते हैं ?

जिस समय इस वर्तमान जगत् को परमेश्वर ने बना कर सच्चाई और भूठ में अन्तर डाल दिया तो तुमको उचित है कि सत्य से प्रेम और भूठ से घृणा करो । अब जो मनुष्य इसके विरुद्ध होगा वह अपने मार्ग में स्वयं संकट उत्पन्न करेगा । मनुष्य को सत्य से इस प्रकार प्रेम करना चाहिये जिस प्रकार कि ऋषि दयानन्द करते थे । सभा लगी हुई है, ऋषि के मुँह से एक अशुद्ध शब्द निकल गया । एक छोटा-सा बालक उठकर कहता है, महाराज ! यह शब्द ऐसा नहीं है । ऋषि स्वीकार कर लेते हैं कि वास्तव में यह शब्द मेरे मुख से अशुद्ध निकल गया था । यदि ऋषि चाहते तो उस अशुद्ध को भी शुद्ध कर सकते थे, परन्तु सत्य के प्रेमी ऋषि ने ऐसा करना उचित न समझा क्योंकि ऋषि जानते थे कि यदि भूठा हठ आ गया तो अन्तःकरण पर भूठ की छाया पड़ जायगी, इस अपनी थोड़ी-सी मान-हानि पर सत्य के साथ घृणा क्यों करूँ ? सत्य के साथ प्रेम रखने के कारण वह तो ऋषि बन गये, परन्तु दूसरी ओर अनुभूति-स्वरूप नाम के एक वृद्ध आचार्य्य थे, बुढ़ापे के कारण उनके मुख से पशु शब्द के स्थान में पुंशु निकल गया । लोगों ने कहा कि यह तो अशुद्ध शब्द है, बस इस पर वे मान-प्रतिष्ठा के कारण हठ पर

आ गये और पूरे तीन मास गृह से नहीं निकले । अन्त में एक ऐसा ग्रन्थ बनाया जिसमें पुंशु शब्द का ठीक सिद्ध किया । परन्तु वह भी अशुद्ध सिद्ध हुआ, परन्तु उनका मन तो अभिमान और हठ के कारण मलीन हुआ । इसलिये मनुष्य को सर्वदा अपने मन को शुद्ध रखना चाहिये और सत्य के साथ प्रेम रखना चाहिये । बुरे कर्मों से बचने के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता है—

मन में विमलता, जीवन में सरलता और शरीर में सफलता

यदि आपके शरीर में बल, मन साफ, जीवन पवित्र, सरल और सादा है तो आप सच्चे हैं । यदि आपका जीवन पवित्र नहीं है, भ्रष्ट है और शरीर बलवान् नहीं है तो आप बुरे कर्मों से नहीं बच सकते । परन्तु वह तब हो सकता है जब आप वेदों के उपदेश पर चलें । वेद का उपदेश है—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणोयज्ञेन कल्पतां चक्षुर्य-
ज्ञेन कल्पतां....

हे मनुष्य ! तू अपने शरीर को यज्ञ बना दे, अपने प्राण को यज्ञ बना दे अर्थात् पुरुषार्थ से अपने कर्ण, नेत्र आदि इन्द्रियों को कार्यरूप में परिणत कर ! केवल शिक्षा सुनने से ही काम न चलेगा !

स्वामीजी महाराज लिखते हैं, संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है । अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना । इसमें ऋषि ने सब से पहला नम्बर शारीरिक उन्नति को दिया है, क्योंकि जिसका शरीर दुर्बल है वह संसार का तो क्या, अपना भी उपकार नहीं कर सकता और बलवान् उसे दबा लेते हैं । जिनके आत्मा बलवान् और शरीर पुष्ट हों वे ही ऐसे कष्ट के समय नेकी तथा सदाचार का आदर्श दूसरों के सम्मुख रख सकते हैं और इसके लिये आवश्यक है कि मनुष्य सब प्रकार की विषय-वासनाओं से बचे । जो मनुष्य विषय-वासनाओं में लगा रहता है वह कभी हृष्ट-पुष्ट और बलवान् आत्मा वाला नहीं हो सकता ।

अकड़ ऐंठ अभिमान में, गए हज़ारों वर्ष ।
आओ प्रिय, मिल बैठिए, जो बड़े हृदय में हर्ष ॥

आओ ! जुदाई और द्वेष के सिर राख डालो । मेल-मिलाप में आनन्द हो जायगा, भुजाओं में बल आजायगा, शरीर में शक्ति आ जायगी । यही मार्ग है सुख और शान्ति का ! भावी सन्तति को बिगड़ने न दो, प्रेम और प्रीति बढ़ाओ, परमात्मा तुम्हारा कल्याण करेगा !

सत्संग की महिमा

वर्षा ऋतु से पूर्व लोग आम तो चूसते हैं परन्तु स्वाद नहीं आता क्योंकि उनमें अभी मिठास नहीं आई होती। परन्तु जब वर्षा हो जायगी वे स्वादिष्ट हो जाएँगे। यही नियम मनुष्य-जीवन का है। सत्संग-रूपी अमृत को पाकर मनुष्य धर्मात्मा बन जाता है, कुसंग से केवल अपना आप ही नहीं वरंच जन-समूह के नाश का कारण होता है। जिस प्रकार वायु मिट्टी को ऊपर ले जाता है परन्तु जल उसको कीच बनाता है, ठीक उसी प्रकार सत्संग मनुष्यों को ऊपर उठाता है और कुसंग मिट्टी में मिलाता है।

किस तरह कुसंग मनुष्य को गिराता है, इसका दृष्टान्त अभी मुझे रेल में मिला। एक मनुष्य गाड़ी में सिगरेट पीना चाहता था, वह दियासलाई सिगरेट को लगाता परन्तु वह वायु से बुझ जाती। दो तीन बार उसने ऐसा किया परन्तु काम न बना, अन्त में वह टट्टी में गया और वहाँ जाकर उसने सिगरेट को जलाया। टट्टी

जाते समय तो लोग नाक और मुँह पर कपड़ा रखते हैं परन्तु सिगरेट का कुसंग उसको टट्टी में ले गया ।

शास्त्रों में कहा गया है कि सत्संग कुसंग से रहित होकर करो । पन्द्रह सेर हलवा में यदि एक तोला विष मिला दिया जाय तो सारा हलवा विष हो जायगा, परन्तु एक तोला विष में पन्द्रह सेर हलवा मिला देने से भी विष हलवा नहीं बनेगा, खोटे का कुसंग भले मनुष्य पर भी विपत्ति ले आता है ।

हंस और काक एक वृक्ष पर इकट्ठे रहते थे । काक बड़ा ही कुटिल जन्तु है, वह मन में हंस से द्वेष रखता था और प्रगट में उसकी मित्रता का दम भरता था । एक दिन दोपहर के समय एक यात्री वृक्ष के नीचे आकर सो गया । कुछ समय के पश्चात् उस पर धूप आ गई । हंस ने देखा कि थका-माँदा यात्री पड़ा है, धूप की गर्मी से वह शीघ्र जाग उठेगा । उसने अपने पंरों को पसार कर उस पर छाया कर दी, यात्री को विश्राम मिल गया । काक ने भी उसको देखा और मन में सोचा कि आज हंस से प्रतिकार लेने का अच्छा अवस है । उसने हंस के नीचे होकर यात्री के मुँह पर बींट कर दी और उड़ गया । गर्म-गर्म बींट का पड़ना था कि यात्री की निद्रा खुल गई और उसने देखा कि हंस पंख पसारे

वृत्त पर बैठा है। उसे क्रोध आया कि इसने मेरे मुँह पर बीट कर दी है, तुरन्त उठा और उसे बन्दूक मारकर मार दिया। आपने देखा कि किस प्रकार कुसंग के कारण भलाई का बदला बुराई मिला।

सत्संग की संसार में बड़ी न्यूनता हो रही है। लोगों के हृदयों में धर्म के लिये वह श्रद्धा नहीं रही जो प्राचीन काल में थी। आप उपदेश सुन रहे हैं, तनिक-सी खड़खड़ाहट कहीं हो, आप भागने को तैयार हैं। परन्तु एक समय महात्मा बुद्ध का उपदेश हो रहा था, इतने में भूचाल आ गया, कई मकान गिर गए परन्तु जो लोग उपदेश सुन रहे थे उन्होंने हिलने का नाम नहीं लिया।

एक कवि ने सत्संग और कुसंग पर बहुत अच्छा कहा है—

सत्संग और कुसंग में बड़ा अन्तरा जान।

गांधी और लोहार की देखो बैठ दुकान ॥

लोहार की दुकान पर उष्ण लौह की चिंगारी से आप बच नहीं सकते, इसी प्रकार गांधी की दुकान पर बैठने से चाहे आपने इतर ना ही लेना हो, सुगन्धि अवश्य ही आपके मस्तिष्क को सुवासित करेगी। यही सत्संग और कुसंग में अन्तर है।

सत्संग से लाभ

सत्संग से क्या लाभ होता है, इसका शास्त्रकारों ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है, परन्तु एक दो साधारण बातें बतलाकर मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करूँगा। पहली बात—

जाड्य धियो हरति

सत्संग बुद्धि को निर्मल और सूक्ष्म बना देता है। लोग पूछते हैं कि परमात्मा दिखाई क्यों नहीं देता? उपनिषदों में बतलाया है कि वह दिखाई देता है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से। खांड मिट्टी में मिल गई, आपसे वह पृथक् नहीं हो सकती, क्योंकि आपके पास इतना सूक्ष्म यन्त्र नहीं, परन्तु चींटियाँ इसको क्षण भर में पृथक् कर देंगी। ऐसी ही सत्संगी पुरुष की बुद्धि निर्मल हो जाती है।

दूसरा लाभ सत्संग से यह होता है—

सिञ्चति वाचि सत्यम्

सत्संग से वाणी में सच्चाई आ जाती है। इसलिये कहा है—

जहाँ सच वहाँ आप, जहाँ झूठ वहाँ पाप।

आजकल महात्मा शब्द की बड़ी मिट्टी खराब हो

रही है। परन्तु शास्त्र बतलाते हैं कि जिस पुरुष का वाणी और कर्म एक है, वह सच्चा महात्मा है। जिसके मन में कुछ और, दिखलावे के लिये कुछ और, वाणी में कुछ और, तथा अपने स्वार्थ के लिये कुछ और होता है, वह दुरात्मा होता है। अब आप सोच लें कि इनमें से कितने महात्मा हैं ? थोड़ी-थोड़ी बात पर झूठ बोल दते हैं, सच और झूठ की पहचान नहीं रही, यह सारी बुराइयाँ सत्संग से दूर हो सकती हैं।

लोहा जल में डूब जाता है परन्तु काष्ठ के साथ लगने से तैरने लगता है। इसी प्रकार बुरे से बुरा मनुष्य सत्संग से भला बन जाता है। वाल्मीकि का दृष्टांत आपके सम्मुख है। वह वाल्मीकि जो दिन-रात डाके मारा करता था, एक साधु के उपदेश से सुधर गया, और जब तक संस्कृत की एक भी पुस्तक शेष है उसका नाम अमर रहेगा। कहा है—

‘सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्’

उपदेशक प्रत्येक व्यक्ति पर किसी विशेष समय पर अपना प्रभाव डालता है। सहस्रों उपदेश सुने जाओ, कुछ फल नहीं होता, परन्तु एक समय ऐसा होता है जब साधारण-सी बात से मन पर चोट लग जाती है और उसका प्रभाव हो जाता है। अभी मैं मिट्ठाटिवाणा

में गया। उपदेश करते हुए साधारण रीति से मैंने मांस-भक्षण का निषेध किया और कहा कि इसका खाना धर्म के विरुद्ध है। उसी समय वहाँ एक रईस खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर कहने लगा कि महाराज मैं आज से मांस खाना छोड़ता हूँ और साथ ही हुका भी छोड़ता हूँ। परन्तु यहाँ कितना ही मांस के विरुद्ध कहा गया, असर नहीं हुआ। परन्तु समय आवेगा जब यही उपदेश इनके आत्मा पर भी चोट लगायेगा।

एक पुरुष की दूसरी स्त्री सदैव उसको पहली स्त्री के पुत्र के विरुद्ध भड़काया करती थी। उसका विचार था कि यदि यह मर जाये तो मेरा पुत्र एक दिन सारी सम्पत्ति का अधिकारी होगा। नित्य की कहा-सुनी से पति पर असर हो गया और वह एक दिन अपने पुत्र को मारने के लिये खेत में साथ ले गया। अब उसको साहस न होता था कि वह अपने आत्मज को किसी छुरी व तलवार से मार दे। चाहता यह था कि किसी प्रकार वह हल के नीचे आजाय और बिना किसी प्रकार की निर्दयता के मर जाय। छोटा-सा बालक उसके आगे-पीछे फिरता और उसका पिता हल को बार-बार उसकी ओर लाता। घण्टा-डेढ़ घण्टा इसी प्रकार करता रहा कि इतने में उसका हल एक छोटे से पौदे से जा लगा।

बालक चिल्लाया—पिता जी ! हल को इस ओर मत लाओ । पिता ने कारण पूछा, उसने बतलाया कि नन्हा-सा पौदा उखड़ जायगा । पिता ने कहा, फिर क्या होगा और पैदा हो जायगा ? बालक ने कहा, दूसरे का उगना निश्चित नहीं है, परन्तु जो उग चुका है वह तुम्हारे हल से उखड़ जायगा । इन शब्दों से पिता के चित्त पर बड़ी गहरी चोट लगी और उसने अपने पुत्र को उठाकर गले से लगा लिया और घर जाकर अपनी स्त्री को ऐसा डाँटा कि फिर उसने कभी बालक के विरुद्ध न कहा ।

एक और उदाहरण देकर फिर आगे चलता हूँ । एक डाकू सदैव मुसाफिरों को मारा करता था और उनका माल-असबाब लूट लिया करता था । एक दिन एक महात्मा पुरुष घोड़े पर सवार उधर से जा रहा था । डाकू ने कहा कि अपना घोड़ा मुझे दे दो और यदि तुमने कहीं दूर पहुँचना है तो मेरा ऊँट तुम ले लो, परन्तु वह न माना । तब डाकू ने कहा कि अब तुम सावधान रहना, मुझे यह घोड़ा अवश्य ले लेना है । यह कहकर वह दूसरे रास्ते से होकर रोगी साधु का वेष बना कर रास्ते में पड़ गया और 'हाय हाय' करने लगा । इतने में वह महात्मा भी वहाँ पर आ पहुँचा । साधु को इस प्रकार तड़पता देखकर उससे न रहा गया, उसने साधु

से पूछा कि आपको क्या कष्ट है ? उत्तर मिला कि मैं दर्द से मर रहा हूँ । महात्मा ने कहा कि आप मेरे घोड़े पर चढ़ जाएँ, मैं आपको हस्पताल में छोड़ आता हूँ । साधु ने कहा कि मुझसे हिला नहीं जाता । महात्मा ने उसे अपनी पीठ पर चढ़ाकर घोड़े पर बैठा दिया । ज्यों-ही वह घोड़े पर चढ़ा, उसको एड़ी लगाई और महात्मा से पचास गज दूर हो अपने वास्तविक वेष में आकर कहा, “क्यों भाई, घोड़ा ले लिया कि नहीं ? उस समय तो ऊँट लेकर भी घोड़ा नहीं देते थे ।” उसने कहा, “निःसन्देह तुमने घोड़ा ले लिया और उसे वापस भी नहीं माँगता, परन्तु एक बात मेरी अवश्य मानना ।” डाकू ने कहा—“वह क्या ?” उत्तर दिया कि किसी को कहना नहीं कि हमने साधु का वेष बनाकर घोड़ा लिया है वरना नेकी का दरवाजा सबके लिये बन्द हो जायगा, अच्छे से अच्छे पर भी लोग डाकू होने की शंका करेंगे । सुतरां इन शब्दों ने डाकू के हृदय पर चोट लगा दी और वह हाथ बाँधकर खड़ा हो गया । घोड़ा वापस दे दिया और कहा कि मुझे कुछ और भी उपदेश कर जाओ । इसीलिये उपदेश हर समय और हर स्थान पर दिया जाता है, न जाने किस समय किस पर प्रभाव पड़ जावे ?

बर्मा देश की बात है । वहाँ एक पुरुष का युवा पुत्र

मर गया। तीन चार दिन निरन्तर उसको रोता पीटता देखकर उनके कुछ पड़ोसी आए और उनसे अपना रुपया बड़ा जोर देकर माँगने लगे। वह आश्चर्य में था कि एक तो पुत्र के मरने का दुःख और दूसरा इन रुपया माँगने वालों की ओर से दुःख। उसने कारण पूछा। उत्तर मिला कि तुम रुपया से मुकर जाने वाले प्रतीत होते हो, परमात्मा ने तुम्हारे पास वह लड़का अमानत के तौर पर भेजा था, उसको आवश्यकता हुई उसने अपनी अमानत वापस लेली, अब तुम तीन-चार दिन से रो रहे हो। जब परमात्मा की अमानत देने पर तुमने इतनी दुहाई मचाई है तो हमारी अमानत तुम क्यों देने लगे हो? यह कहना था कि सारा परिवार चुप हो गया, उन्हें शान्ति आ गई; यह है सत्संग। आवश्यकता है कि फिर से तुम लोग सत्संग बढ़ाओ।

आर्य-समाज ने संसार को सत्संग के झंडे तले लाना था, परन्तु यह अभागा स्वयमेव घरेलु झगड़ों में फँस गया। जिधर जाओ इसके आपस के झगड़ों की चर्चा सुन पड़ती है। परन्तु स्मरण रखो आर्यसमाज बड़ी भारी विपत्ति को बुला रहा है, निश्चय रखो, इस पर घोर विपत्ति आयगी और उस समय समस्त परस्पर-विरोधी शक्तियाँ मिल जायेंगी, परन्तु उस मेल से कुछ न बन

सकेगा ।

बंगाल में एक बार जल का एक भारी बाढ़ आया । बहुत से मकान, अनेकों मनुष्य और बहुत से पशु बह गये । परन्तु जल के मध्य में एक ऊँचे स्थान पर एक नेवला, सर्प, गाय, सिंह, बिह्ली, कुत्ता और एक अजगर, एक मनुष्य और इसी प्रकार के कई एक विरोधी जन्तु इकट्ठे हो गए । अब नेवला सर्प की ओर आँख नहीं उठाता, सिंह गाय की ओर नहीं देखता, अजगर मनुष्य की ओर नहीं लपकता, विपत्ति के समय उन सबका द्वेष-भाव दूर हो गया था, परन्तु इस मेल-मिलाप से कुछ लाभ नहीं क्योंकि सबकी शक्ति नष्ट हो चुकी है ।

इसी प्रकार आने वाली विपत्ति के समय यदि आर्य-समाज की पाटियाँ आपस में मिल बैठें तो इससे क्या लाभ ? उनके घरेलु झगड़े तो आर्यसमाज को शनैः शनैः पहले ही निर्बल बना देंगे । इसलिये आओ, अब भी मिल जाओ और इस विपत्ति को न बुलाओ ।

कैसी पुस्तकों से सत्संग किया जाय ?

सत्संग महात्माओं के वचनों द्वारा ही नहीं होता उनके लेख द्वारा भी हो सकता है । एक राजा का मन्त्री छः मास की छुट्टी लेकर बन में चला गया । वहाँ से उसने कुछ समय पश्चात् राजा को पत्र लिखा कि मैं

शान्ति की गंगा में नित्य स्नान करता हूँ और महामुनि पतञ्जलि और गौतम से सत्संग करता हूँ । राजा को आश्चर्य हुआ कि पतञ्जलि और गौतम अब कहाँ ? यह उसने झूठ लिखा है । वह स्वयं उससे मिलने के लिये गया, जाकर देखा तो उसका मन्त्री बन में एक कुटिया बनाकर वास कर रहा है । एक दो दिन उसके पास रह कर राजा ने पूछा कि यह बात तो ठीक है कि आप शान्ति की गंगा में नित्य स्नान करते हैं, परन्तु पतञ्जलि और गौतम का संग कहाँ ? मन्त्री ने तुरन्त आले में से योग और न्याय शास्त्र निकाल कर राजा के सम्मुख रख दिये, और कहा कि बतलाइये आप पतञ्जलि और गौतम से क्या पूछते हैं ? यह है पुस्तकों का संग, परन्तु आज-कल के नवयुवक नॉवल और इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों को पढ़कर अपने बल और वीर्य का नाश कर रहे हैं । सदैव ऐसी पुस्तकों को पढ़ो जिनसे जीवन बनता है ।

एक महात्मा ऋषि दयानन्द ने सत्संग लगाया, उसी का फल है इस समय कई स्थानों पर सत्संग हो रहा है । यह सत्संग ऋषि दयानन्द का सत्संग है । गाड़ी एञ्जिन नहीं बन जाती, परन्तु एञ्जिन के साथ लगने से गाड़ी की गति बहुत तेज हो जाती है । इसी प्रकार हम

यदि ऋषि न भी बन सकें तो ऋषियों के सत्संग से हमारे धर्मात्मा बनने में सन्देह नहीं रहता । इसलिये हमें चाहिये कि ऋषि दयानन्द के पीछे चलें, इससे आपका यश होगा और आने वाली सन्तान सुधरेगी ।

—:❀:—

यज्ञ की भावना

सबसे पहले एक बात समझ लो, तो मेरे भाव को फिर आप भली-भाँति जान जाएँगे। समुद्र के ऊपर बहुत से जहाज़ चलते हैं, एक को तूफ़ान ने घेर लिया, वह अपने मार्ग से दस-बीस मील दूर किसी दूसरी ओर भटक गया। जब तूफ़ान शान्त हो गया तो उसके कप्तान को क्या सोचना समझना चाहिए ? उसका पहला कर्त्तव्य यह है कि मेरा जहाज़ जिस स्थान पर था वहाँ से कितनी दूर हट गया है ? यदि इस बात को ठीक जान लिया तो अपने उद्देश्य पर पहुँच गया और जो बिना विचारे जहाज़ चला दिया तो सम्भव है कि मार्ग पर भी आजाय और यह भी सम्भव है कि सैकड़ों मील की भूल कर जाय।

भूले हुए जहाज़ के केन्द्र की स्थिति को पहले समझना, फिर चलाना होता है। इसी प्रकार संसार-सागर में भूली हुई जातियाँ हैं। यदि जातियाँ यह न देखें कि कहाँ से भूली थीं, यदि इसका विचार नहीं

करतीं तो भटकती हैं, सहस्रों वर्षों का प्रयत्न भी एक पग आगे नहीं बढ़ा सकता। प्रयत्न, धन का खर्च और सैकड़ों उपायों का फल कुछ नहीं निकलता। इस-लिये प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जाति का यह कर्तव्य है कि अपनी स्थिति पर गम्भीर विचार करे और सोचे कि उसमें क्या दोष हैं, क्या त्रुटियाँ हैं—तभी कल्याण होगा।

ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में बताया था कि “जब भाई भाई से लड़े, वमनस्य हो जाय तो वहाँ नाश होने के सिवाय और क्या आशा है ?” दुःख है तो यह कि जिन्होंने प्रेम सिखलाना था उनके विचारों में एकता नहीं है। हममें ऐसे वृद्ध नहीं दीख पड़ते जो इस उलझन को खोल दें, यह निराशा है।

स्वामी जी कहते हैं, महाभारत में दुर्योधन के दुष्ट भाव से परस्पर युद्ध हुआ और भारत देश में वैर-भाव फैला और आज तक चला आता है। पता नहीं इसका पीछा कब छोड़ेगा ? अथवा रसातल को पहुँचा देगा।

पचास वर्षों में आर्यसमाज के प्रचार से ऋषि दयानन्द के विचारों ने संसार में तो पल्टा दे दिया। जिन ईसाई और मुसलमानों की यह आशा थी कि एक शताब्दि में हिन्दू-जाति को वे अपने अन्दर बाँट लेंगे

आज वे घर के अन्दर विचार करते हैं कि आर्यसमाज हमको भी छोड़ेगा या नहीं ?

फिर यदि आर्यसमाज में अनैक्य की ज्वाला बढ़ रही है, फिर तो शेष क्या रहा ? इस वैर-भाव को ही तो उठाना था, शेष कौन-सी वस्तु यहाँ नहीं थी, परन्तु स्वयं वैर में पड़ गए। यह है निराशा की बात, और सब आशा ही है।

अब देखना यह है कि हमारी भूल कहां पर है ? केवल एक शब्दको भली-भाँति समझ लो तो सब पता लग जायगा।

देखो, एक “यज्ञ” शब्द आता है। कहीं ‘यज्ञ’ परमात्मा का वाचक है; दूसरे स्थल पर पुरुष के साथ मिले हुए आत्मा का नाम यज्ञ है, तीसरे स्थान पर यज्ञ शब्द शुभ कर्मों का वाचक है। एक और मंत्र में यज्ञ शब्द आया है जहां पुरुष के सुधारक वाचक है। फिर पितृ-यज्ञ देव-यज्ञ में कर्म का वाचक कहा है। बलवान् आत्मा बलवान् शरीर को चाहता है, आप अपने आप को यज्ञ बनाने का यत्न करो, फिर आप उस यज्ञस्वरूप परमात्मा से मिल जाओगे।

वेदमन्त्र कहता है—“आँख को यज्ञ बनाओ।” एक कवि ने कहा है कि हे भगवन् ! दूसरे के अपवाद

करने से, दूसरे की निन्दा करने से मुख में दोष आ जाता है, नेत्र स्त्री पर कुदृष्टि डालने से दूषित हो जाता है और चित्त दूसरे की हानि सोचने से दूषित हो गया, मार्ग सब बिगड़ गए, फिर मनुष्य यज्ञ कैसे बना ? परमात्मा से इस प्रकार भेंट नहीं हो सकती । आँख से देखकर कैसे दोष होते हैं ? एक जन्तु आपके सामने से जाता है, एक मनुष्य उसे देखकर सोचता है कि परमात्मा की सृष्टि में कैसे सुन्दर जन्तु हैं । दूसरा सोचता है कि इसका मांस बड़ा स्वादिष्ट है । भाव दोनों के भिन्न-भिन्न हैं, और इसी से कार्यों में भूल हो जाती है । मनु जी कहते हैं, जब मनुष्य का भाव अच्छा नहीं तो चाहे वेद पढ़ लो, यज्ञ करलो, सब दूषित हैं । यदि भाव में सच्चाई है, तो सब कुछ ठीक है ।

फिर कहा है कि यज्ञ को यज्ञ-रूप बनाओ अर्थात् अच्छे कर्मों को भी यज्ञ बनाओ । ज़िला बदायूँ में एक नकलनवीस रिश्वत लेता था । उसने आर्यसमाज के सत्संग से घूस लेना छोड़ दिया । परन्तु उसने किया क्या कि काम करने वालों से बोलता ही नहीं । उसके अन्दर अभिमान आ गया कि मैं घूस नहीं लेता । निकाला तो कुत्ते को और बाँध लिया गधे को । उचित

तो यह था कि बोलता सभी से, परन्तु घूस लेने वालों की न्याई घूस न लेता । इस प्रकार करता तो संसार को अच्छा आदर्श देता । इसलिये कहा है कि भले कर्मों से जो बड़ाई होती है, उसे भी निष्काम और ईश्वर के अर्पण कर दो ।

अपने आप को यज्ञ बनाओ । इसीलिये संध्या करने का समय रखा हुआ है । श्रद्धा का तन्तु मृत्यु से अभय कर देता है, बलवान् बना देता है, इसलिये आप सायं प्रातः अपने आपको यज्ञ बनाने का यत्न करो । यह दोनों काल विचार के लिये रखे हुए थे । सूर्य की ओर क्यों बैठें ? संकेत से बताया है कि हे मनुष्यो ! तुम विद्या और प्रकाश की ओर खड़े रहो । यदि प्रकाश की ओर पीठ दे दी तो छाया सामने होगी, तुम्हारे सामने फिर प्रकाश नहीं प्रत्युत् अन्धकार होगा । सायंकाल फिर सूर्य की ओर ही मुख करो और बतलाओ तो सही, जब कभी कोई मित्र आता है तो उसकी अगवानी के लिये उसकी ओर मुख करते हो अथवा पीठ देते हो । ऐसे ही जब गाड़ी आती है तो सब उसीकी ओर ही देखते हैं और जब जाती है तो भी लोग उसी की ओर देखते हैं । फिर सायंकाल और प्रातःकाल ही संध्या क्यों ?

देखो इसको समझो—

जो प्रश्न कहीं सिद्ध नहीं होता वह अलजबरा की समानता की श्रेणी में सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार सांभ और सवेरा समानता की श्रेणी के समय हैं। किसी के स्वत्व का हनन न करना समानता है। एक मनुष्य को घोड़े ने पड़ाव पर पहुंचा दिया, अब सवार का कर्त्तव्य है कि अपने खाने-पीने का प्रबन्ध पीछे करे पहले घोड़े के चारे का, यह है समानता।

संसार से वैर-विरोध हट जाएँगे यदि आपके मन में समानता का भाव आ जायगा। उपनिषद् में लिखा है कि मनुष्य के शरीर में दो शक्तियाँ हैं, रयी और प्राण। दिन के समय प्राण की शक्ति बढ़ती है, रात्रि को रयी की बढ़ती है। रयी की शक्ति रात्रि को बढ़ती रहती है, और प्रातःकाल को रयी और प्राण की शक्ति सम हो जाती है, वैसे ही सोयंकाल को दोनों शक्तियों के सम हो जाने से जो सोचो, सोच लोगे। परन्तु सोचे कौन, उस समय तो उठता ही कोई नहीं।

जहाज़ चलाने वाले कप्तानों के पास एक कम्पास होता है जिसकी सूई हिला दो वह फिर भी ध्रुव की ओर हो जायगी। उसके बनाने वाले ने चाहे कोई नियम रखा हो, परन्तु योग के जानने वाले कहते हैं

कि जितने तारे हैं सब चलायमान् हैं और ध्रुव के गिर्द घूमते हैं और वह खड़ा रहता है, इसलिये कम्पास की सूई इस ओर ही ठहरती है।

चित्त की वृत्ति भी सूई है। यह किधर ठहरे ? जब स्थिरस्वभाव परमात्मा की ओर जायगी तो ठहर जायगी। जगत् के पदार्थ तो चलायमान् हैं, वहां यह सूई ठहर नहीं सकती। एक देवी की ओर आँख उठाने से बुरा भाव उत्पन्न हो गया तो क्या समझते हो कि कोई विकार न लायेगा, अवश्य लायेगा। चित्त के स्थिर और समान न रहने से भारी कुकर्म होते हैं। इसीलिये कणाद ऋषि ने नियम बताया है कि अविद्या मनुष्य से सब प्रकार के पाप करवाती है, और यह इन्द्रियों के मार्ग से संग-दोष से आती है।

इन्द्रियों को वश में लाना कठिन है, और सब काम सुगम हैं। एक कमाण्डर-इन्-चीफ़ सेना को जीत कर आया और एक कन्या के रूप को देखकर मोहित हो गया। वह कन्या सदाचारिणी थी, कहती है—‘हे सेनापति ! वह तेरा ओजस्वीपन तो मेरे एक कटाक्ष के देखने से नष्ट हो गया, तनिक सोच तो सही। जो मनुष्य हाथी के दन्त उखाड़ने, सिंह को मारने, सर्पों को हाथों से मार देने में समर्थ है, वही इन्द्रियों के

वश करने में असमर्थ हो रहा है। तू कहता है कि तूने लाखों को जीता है और मैं कहती हूँ कि मैंने तुझको जीता है।' कप्तान की बुद्धि ठिकाने आ गई। मनुष्य वह है, जो मनुष्य के काम करे।

एक फ़ारसी का कवि कहता है—

“एक तरफ़ से देखूँ तो करोड़ों आदमी नज़र आते हैं लेकिन दूसरी तरफ़ से देखूँ तो कोई भी नहीं।”

मनुष्य वह है जिसने अपने आत्मा का बल बढ़ाया है, जैसे महानुभाव महर्षि दयानन्द थे, बल देखो तो पूरा, विद्वान तो पूर्ण, संसार को सुधारने की भावना को देखो तो पूर्ण, जितेन्द्रियता में भी पूर्ण।

प्रमाद न करो, दुःख उठाओगे। समय अच्छा है, साधन अच्छे हैं, अपने आप को जितेन्द्रिय बनाओ। इन्द्रियों को वश में कर लेने से मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। मनु जी ने कहा है कि जितेन्द्रिय बनने का विचार करो, इन्द्रियों को वश में करो। विषयों के जाल में न फँसो। यदि अपने जीवन को यज्ञ-रूप बनाना चाहते हैं तो इन्द्रियों के प्रत्येक मार्ग को ठीक करके उन्हें वश में ले आओ। जितना मनुष्य वीर्यवान् होगा उतना ही सुन्दर होगा और रोगरहित होगा, सन्तान भी बलवान् होगी। इसलिये अपने आप को वश में रखो।

यदि नहीं रखते तो कवि का वाक्य सुनो, जो कहता है—
“पहले ही पापों का फल पा रहे हो; फिर भी मूर्खता के
वश में होकर उन्हीं पापों के गम्भीर जल में जाते हो और
अपनी गर्दन पर मन भर की शिला बांध रहे हो।”
उपदेश केवल सुनने के लिये नहीं, उपदेश जीवन में
लाने के लिये होते हैं। “हे परमात्मा ! हमें बल दो,
हमारे विचार शुद्ध हों !”

ईश्वर-भक्ति

सत्सङ्ग की महिमा सारे शास्त्रों ने गाई है, इसलिये जीवात्मा का जो भी क्षण सत्संग में व्यतीत हो जावे वही क्षण शुभ है। यद्यपि आज इस बात को जानते हुए भी हमने अपने जीवनो को अधिकतर सांसारिक कामों में लगाना ही धर्म समझा हुआ है, परन्तु प्राचीन समय में एक-दो घंटे के लिये प्रत्येक पुरुष ईश्वर-गुण-वर्णन और विचार में समय व्यतीत करता था। इसी प्रकार हवन की महिमा है। प्रातःकाल का हवन अपनी सुगंधि से धीमे २ वायु को पवित्र करता है, संध्याकाल में फिर हवन किया जाता है। इस तरह प्रातः के सत्सङ्ग से अभ्यासी पुरुष सन्ध्या तक रंगे रहते थे फिर संध्या को सत्सङ्ग का और रंग चढ़ाते थे। परमेश्वर का चिन्तन मनुष्य को सुख की ओर ले जाता है। वेदों के मन्त्र देखें, एक ८ मन्त्र जीवन को पवित्र करता है। जो ऐश्वर्य हम चाहते हैं उनका केन्द्र भी वेद-मन्त्र हैं।

परमात्मा बतलाते हैं—भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों की गति परमेश्वर में नहीं है । उसमें केवल वर्तमान काल है । परन्तु केवल वर्तमान क्यों ? बताइये, आपके साथ किस काल का सम्बन्ध है, भूत का अथवा भविष्यत् का ? जो भूत हो गया वह गया और जो भविष्यत् है वह आकर वर्तमान बन जायगा, इसलिये वर्तमान काल किसी दशा में भी अलग नहीं होता । सदा ही 'वर्तमान काल' का सम्बन्ध आपके साथ है, परन्तु प्रतीत नहीं होता । इसी प्रकार परमेश्वर की सहायता आपके साथ है परन्तु प्रतीत नहीं होती । प्रश्न यह है कि वर्तमान को किस प्रकार जानें ? क्या चार घंटे दो घंटे अथवा एक घंटे को वर्तमान कहते हैं ? नहीं ! यह 'वर्तमान काल' कुछ और है । भूत और भविष्यत् दोनों को अलग करने वाली शक्ति वर्तमान काल कहलाती है । ऐ संसार के मनुष्यो ! जैसे वर्तमान काल की प्रतीति नहीं होती परन्तु वह है, इसी प्रकार परमेश्वर की सत्ता प्रतीत नहीं होती परन्तु तुम्हारे साथ बराबर विद्यमान है । दूसरी ओर बतलाया है कि परमेश्वर सुख-स्वरूप है । हम सुख चाहते हैं । सुख का केन्द्र कहाँ है ? वह केन्द्र वही परमात्मा है । मुझे केवल उससे ही माँगना चाहिये क्योंकि उसी में कुछ देने की शक्ति है । जिसके पास कुछ नहीं वह मुझे

क्या दे सकेगा ? यदि मैं भूखा हूं तो मुझे रोटी वाला ही रोटी दे सकता है । इसी प्रकार हम किसी और से सुख नहीं पा सकते, केवल उस सुख के केन्द्र से ।

हमारी गति इस समय उल्टी हो रही है । परमेश्वर से हम नहीं डरते, मनुष्यों से डरते हैं । जो लोग परमेश्वर से प्रेम नहीं करते, वे संसार में पग २ पर डगमगाते हैं, क्लेश सहते और नाना प्रकार के दुःखों में फँसते हैं । दो आँख वालों से हम भय करते हैं परन्तु वह परमात्मा, जिसकी सब ओर आँखें हैं, जिससे छिपकर कोई काम नहीं किया जा सकता, हम नहीं डरते ।

क्या आप कोई ऐसा काम कर सकेंगे जिसमें वर्तमान काल न हो ? जिस प्रकार वर्तमान काल साथ नहीं छोड़ता, इसी प्रकार परमात्मा हर समय तुम्हारे साथ लगा हुआ है । देखो, वह तुमको देख रहा है अतः कोई बुरा काम न करना । स्मरण रखो, वह असंख्य आँखों वाला तुम्हें देख रहा है । उससे डरो और किसी से मत डरो । परमात्मा का भय लोगों को बुरे कामों से हटा देता है । जब बुरे काम हट जाते हैं तो फिर बुद्धि निर्मल हो जाती है ।

जातकर्म-सांस्कार में सबसे पूर्व बालक के कान में 'ओं' शब्द कहा जाता है । लोग कहेंगे ऐसा क्यों करते

हो ? बालक भला उसे क्या समझ सकता है । परन्तु मृत्यु-समय भी इसी 'ओं' को स्मरण कराया जाता है और कहा जाता है कि हे संकल्पित पुरुष ! शरीर से वियोग का समय है अब उसी 'ओं' का स्मरण कर जिस का पहले किया था । इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब तक जीवित रहे तब तक 'ओं' का स्मरण करता रहे । यह स्मरण अभ्यास से ही हाता है । यदि आप अभ्यास करते रहें तो मृत्यु का मुकाबिला सहज हो जाता है, जैसे स्वामी दयानन्द जी ने शान्ति के शब्दों का उच्चारण करके प्राणों का त्याग किया था । यदि उस प्रभु की महिमा को न जानोगे, यदि उसके नाम का जाप न करोगे तो स्मरण रखो तुम बुद्धिमान् नहीं कहला सकते ।

महान् प्रभु की शरण लो !

शरीर के साथ जीवात्मा का जो सम्बन्ध है इसे अत्यन्त उपकारक समझो और प्रभु का भजन करो, यही तुम्हारे संग चलेगा । परन्तु जो लोग प्रभु-स्मरण नहीं करते, वे कृतघ्न हैं । कृतघ्नता संसार के सब पापों से बढ़कर है । यदि एक पुरुष हमको (१०) रु० की नौकरी देता है तो उसका दोनों हाथ जोड़ धन्यवाद करते हैं प्रत्युत् जिसने हमारे शरीर के अमूल्य अंगों को दिया है उसका यदि आधा घण्टा स्मरण न कर तो हम कितने

कृतघ्न होंगे ? स्मरण रखो कि कृतघ्न पुरुषों को संसार में कभी सुख नहीं हुआ । इसलिये प्रातः और सायंकाल में अपने आत्मा को उससे जोड़ो, इससे तुम्हारे सांसारिक व्यवहार भी नहीं बिगड़ सकते । शास्त्र कहता है कि प्रातः चार बजे उठ कर उसका स्मरण करो । किसका स्मरण ? उसका, जिसके भीतर चारों वेद आ जाते हैं, जिसने सारे जगत् को रचा है । श्रुति कहती है कि जो लोग वेदों को पढ़कर प्रभु को नहीं पहचानते, उनका वेद पढ़ने का लाभ ही क्या है ?

आप अपने आपको एक व्यायामशाला के ऊपर खड़ा देखो । दो मल्ल (पहलवान) उठते हैं, एक दूसरे को गिराना चाहता है, अन्त को एक गिरा और दूसरे ने गिराया । गिराने वाले का मुख प्रसन्न है । विजय ने उसके मुखड़े को कुरूप होते हुए भी सुन्दर बना दिया है । गिरने वाले के मुख का रंग उड़ गया है, यह क्यों ? आर्य पुरुषो, एक का सम्बन्ध सफलता के साथ है दूसरे का असफलता के साथ । बतलाओ, तुम कैसा बनना चाहते हो ? सफलता को प्राप्त करना चाहते हो अथवा असफलता को ? आप इस संसार रूपी अखाड़े में उतरे हुए हैं । अतः आओ सिद्धि के मार्ग पर चलें ! यदि हम आलस्य और शिथिलता में पड़े रहे, तो सिद्धि कैसे

मिलेगी ? आज चाहे सांसारिक आनन्द और विषय-वासनाओं में पड़कर मृत्यु का भय मिटा दो परन्तु मृत्यु पीछा नहीं छोड़ेगी । एक २ क्षण, घड़ी २, दिन-रात व्यतीत होने से हम मृत्यु के निकट होते जाते हैं परन्तु हमने उसे कभी विचारा ही नहीं ।

शिकारी कुत्ते जब खरगोश के पीछे लगते हैं तो खरगोश थककर भाड़ी में मुँह दे लेता है और समझता है कि कुत्ते चले गये । परन्तु कुत्ते नहीं हटते, वे आ दबोचते हैं । इसी प्रकार यदि मृत्यु का चिन्तन नहीं, तो मृत्यु हट नहीं जाती, वह आएगी और अवश्य आयेगी । एक मनुष्य लाठी लिये मेरे पीछे भागा आता है, मैं बचने का यत्न करता हूँ परन्तु कहाँ जाऊँ ? वह मुझसे बढ़कर पराक्रमी है । मुझे ऐसे सहायक की आवश्यकता है जो मुझसे और मेरे मारने वाले से अधिक बलवान् हो तब मैं बच सकता हूँ । हमारे पीछे मृत्यु लगी हुई है । काल से बढ़ कर कौन बली है ? महारानी विकटोरिया को कई डाक्टर एक क्षण भी अधिक जीवित न रख सके । इस रोग का कोई वैद्य नहीं । परन्तु विचारो, परमात्मा में मृत्यु की गति नहीं, वह इससे ऊपर है । जिसने उनकी शरण ली वह मृत्यु के पंजे से बच गया, वह उसके भय से बाहिर निकल गया । जिसकी आज्ञा से अग्नि तपता

है, जिसकी आज्ञा से सूर्य चन्द्र और पृथ्वी खड़ी है, मृत्यु भी जिसकी आज्ञा से चलती है, उसकी शरण पकड़ो ! फिर तुम्हारा कोई शत्रु न रहेगा । इसके लिये पहले अभ्यासशील बनो । उस मृत्यु से अधिक बली, शरण देने वाले प्रभु का स्मरण करो और वह तुम्हें अपनी गोद में लेकर निर्भय कर देगा ।

भूटे सांसारिक प्रेम का दृष्टांत

एक २०-२२ वर्ष का युवक साधुओं के पास जाता है । साधु उसे कहते हैं, पुत्र तुम होनहार हो, संसार का उपकार कर सकते हो, घर को छोड़ कर संसार के उपकार में लगे । लड़का कहता है मैं पिता का एक ही पुत्र हूँ, मेरा विवाह हुए अभी दो वर्ष हुए हैं, मेरा पुत्र अभी छोटा-सा है, मैं भला कैसे जा सकता हूँ ? क्या यह पाप नहीं है कि इस प्रकार माता और अपने पुत्र आदि को छोड़ दूँ ? साधु कहता है, पाप उसके लिये है जो घर से व्यभिचार करने के लिये निकलता है अथवा कोई पाप करने के लिये जाता है । पाप उसके लिये नहीं है जो संसार का उपकार करने के लिये निकलता है । वह लड़का फिर भी नहीं मानता और अपने माता-पिता का हाल वर्णन करता है । इस पर साधु ने उसको प्राणायाम सिखलाया और कहा, हम तुमको इस सांसारिक प्रेम का

यथार्थ रूप दिखलावेंगे । उसको कहा कि एक दिन तुम किसी रोग का बहाना करना और दूसरे दिन प्राण चढ़ा कर लेट जाना । उस लड़के ने ऐसा ही किया और सांस चढ़ा कर मुर्दों की तरह लेट रहा । घर के लोग रोने पीटने लगे, हाहाकार मच गया । लोग भी सहानुभूति प्रगट करने को आये और कहने लगे, हाय शोक ! माता-पिता का एक ही लड़का चल बसा । उस साधु ने भी यह समाचार सुना और लड़के के घर आकर उसके माता पिता से कहने लगा, हे गृहस्थियो ! रोना बन्द करो, ठहर जाओ, मैं तुम्हारा पुत्र जीवित कर सकता हूँ । साधु ने झूठ ही कुछ पढ़ना आरम्भ कर दिया और फिर दूध मंगवा कर उसके पास रख दिया और कहा, यह लड़का तब जीवित हो सकता है यदि इसका कोई प्यारा मित्र, माता-पिता, बहन-भाई, स्त्री या पुत्र दूध पी ले । परन्तु, जो भी इस दूध को पियेगा, वह मर जावेगा ।

अब बारी २ सब को दूध के लिये कहा जाता है परन्तु उसके सारे सम्बन्धी कोई न कोई बहाना करके टाल देते हैं । मित्र यह दृश्य देखकर पहिले ही खिसक गये कि कहीं हमें न दूध पीने को कहा जावे । जब यह दशा हुई तो साधु ने ऊँचे स्वर से कहा, “हे सम्बन्धियों की झूठी प्रेम-शृङ्खला में बंधे हुए ! देख और ध्यान से

देख कि वे तुम्हको कितना प्रेम करते हैं और तू उनके लिये सारे संसार को अलग किये बैठा है । अब उठ बैठ और उनका परित्याग करके संसार का उपकार कर ।” लड़का उठ बैठा और उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ । शास्त्र कहता है, धर्म के विरोधी माता-पिता को छोड़ दो ।

हमारे जैसे सहस्रों कायर पापी निरर्थक हैं । एक ही यत्नवान् उपकारी जीव बेड़ा पार कर देगा । यदि अपने आप को बलवान् बनाना चाहते हो तो ईश्वर-भक्ति में दत्तचित्त हो जाओ ।

बलधर्म में है

ईश्वर-भक्त चने की रोटी खायेगा, पाप नहीं करेगा । हम दूध माखन खाकर भी दुर्बल होते जाते हैं । मनुष्यो, बल दूध माखन में नहीं प्रत्युत् भक्ति और कर्त्तव्य-पालन में है । जो लोग अपने धर्मपालन में सिंह की न्याईं सीधे तैरते हैं, मृत्यु यदि सम्मुख खड़ी हो तो भी वे आगे जाने से नहीं भिन्नकते । धर्म सहायता करता है परन्तु केवल धर्म २ पुकारने से नहा । धर्म ने उस समय तुम्हारी सहायता करनी है जब पुत्र, धन, राज्य और महलों से आपको धर्म अधिक प्यारा होगा । धर्म से हँसी-ठट्ठा न करो । मनुष्य कहलाते हुए मन में गिरावट,

पग २ पर बुराई ? भाइयो, छोड़ दो इन बातों को । अपने परिवार में बैठकर प्रतिदिन धर्म का चिन्तन करो । अफलातून ने देखा कि एक पुरुष पागलों के पीछे जाता है । अफलातून ने इस पुरुष को बुलाकर कहा कि आप तो विद्वान् और बुद्धिमान् प्रतीत होते हैं, आप अपने मस्तिष्क का इलाज कर लें, आप पागलों के पीछे क्यों घूमते हैं ? उसने कहा, मेरा मस्तिष्क ठीक है, मैं केवल उनकी चाल-ढाल देखता हूँ क्योंकि यह मुझे भली लगती है । अफलातून ने पूछा, कितने दिन ऐसा करते हो गये ? उसने कहा, दस दिन । अफलातून ने कहा, तुम आभे पागल हो चुके हो अब दस दिन के पीछे पूरे पागल हो जाओगे । विचारों का प्रभाव मस्तिष्क पर बड़ा गहरा पड़ता है । जो जिसका विचार अथवा चिन्तन करेगा वह वैसा ही बन जावेगा । इसलिये प्रतिदिन एक-आध घण्टा प्रभु का चिन्तन किया करो, इससे आप अपने आप को और सारे संसार को सुखी कर देंगे । उस समय तुम्हारा कुछ धन अपनी क्षुधा-निवारण के लिये और शेष धन धर्म-प्रचार के लिये होगा । तुम्हारी विद्या तुम्हें सीधे मार्ग पर ले जायगी, औरों को पथ दर्शायेगी । जो ऐसा करेगा वह प्रभु का प्यारा बनेगा, नहीं तो पूछा जाता है और पूछा जा रहा है :—

कभी तू काम भी आया किसी दुखिया दरिद्री के ?
जगत में आन कर तूने किसी से क्या भलाई की ?
भलाई कर बदी को त्याग दो, धर्मी बनो, प्यारे ।
जहाँ तक हो सके सेवा करे सारी खुदाई की ॥
भलाई कर कि वह तुमको भले कामों का फल देगा ।
तेरी भोली वही आशा के फल-फूलों से भर देगा ॥

सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो ?

इस अध्याय का विषय “सुख-प्राप्ति” है । सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? प्रत्येक मनुष्य और प्राणिमात्र इसी के लिये यत्न कर रहा है । परन्तु जिस सुख की इच्छा है, मनुजी उसके विषय में इस प्रकार कहते हैं—“सर्वम् परवशम् दुःखम्” पराधीनता दुःख है और स्वाधीनता सुख । आजकल जिस स्वाधीनता की ओर लोगों की रुचि हो रही है, मेरा संकेत उसकी ओर नहीं । पराधीनता में किस प्रकार दुःख है, उसको मैं एक दृष्टान्त से समझाता हूँ । गायन में आप को बड़ा आनन्द आता है, आप देखें कि इसमें कितनी पराधीनता है ? सबसे पूर्व बाजे की आवश्यकता, फिर बजाने वाले की । यदि बाजा और बजाने वाला दोनों मिल गये और आपने एक घण्टा भर सुना, मन भर गया, दिल उचाट हो गया । आपने कहा बंद करो इस झगड़े को, हमें नींद आ रही है । इस-लिये मनुजी कहते हैं कि इन्द्रियों के विषय में सुख नहीं है । इन्द्रियों से प्राप्त किये सुख में पराधीनता है । प्रत्युत्

पूर्ण आनन्द परमेश्वर में है, जो आदि से आपके संग है और सदा रहेगा, उसकी प्राप्ति ही सच्चा सुख है और इसी सुख में स्वाधीनता है ।

सुख-प्राप्ति के साधन

मनुजी लिखते हैं कि कारण और कार्य में गहरा सम्बन्ध है और जो इसकी गहराई को न समझेंगे वे कभी सफलता को प्राप्त न होंगे । जैसे एक पुरुष को दही की आवश्यकता है, परन्तु वह नहीं जानता कि दही किस प्रकार बनता है, वह कभी आटे और पानी को मिलायेगा और कभी किसी और वस्तु को । परन्तु जो जानता है, वह तुरन्त दूध लेकर दही जमाएगा । सुख भी एक साध्य वस्तु है । इसके साधन क्या हैं ? इनको जानने की आवश्यकता है । सुख क पार्सल बाहिर से नहीं आया करते । सुख तुम्हारे अन्दर भरा पड़ा है, और इसके साधन भी तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं । ऋषि कहते हैं, “प्रीति पूर्वम् सुखम्” जहाँ प्रेम है वहाँ सुख है । प्रीति दुकानों पर नहीं विकती, यह भी तुम्हारे अन्दर ही है । प्रीति की प्राप्ति का साधन विश्वास है । इसी लिये शास्त्र कहते हैं “विश्वास चोरुका प्रीति” जहाँ विश्वास है वहाँ प्रीति है । वह भी आप के हृदय-मन्दिर में विद्यमान है । परन्तु यह उत्पन्न कैसे होता है ? शास्त्रकार

कहते हैं “सत्यमूलको विश्वासः” जहां पर सत्य है, वहां पर विश्वास है। अब यह कैसे जानें कि सत्य क्या है? इसके लिये विद्या की आवश्यकता है। इसीलिये तो कहते हैं कि “विद्या बलवति भवति” विद्या बल के देने वाली है। अब इस समस्या की व्याख्या हो गई, अर्थात् विद्या ने सत्य को उत्पन्न किया, विश्वास से प्रीति हुई और प्रीति से सुख प्राप्त हो गया। यही हमारा साध्य है और इसी विषय पर मैंने आप के प्रति कुछ वर्णन करना है।

प्रीति

सबसे पूर्व हम प्रीति को लेते हैं। संसार में जितना काम हो रहा है वह सब प्रीति और प्रेम के आधार पर है। एक समय था कि मिट्टी अपनी यथार्थ दशा में थी, पानी मिलाकर ईंटें बनाई गईं। अब ईंटें पृथक् २ हैं, कोई काम इनसे नहीं लिया जा सकता परन्तु जिस समय कारीगर ने इन पर गारा और चूना जमा दिया वे पृथक् २ ईंटें मकान के रूप में हो गईं। यही प्रीति का काम है। जैसे दो ईंटों के मध्य में चूने और गारे ने काम किया, इसी प्रकार जिस सभा में बुद्धिमान् पुरुष अपनी बुद्धि और प्रेम रूपी गारे को काम में लाते हैं, उन सभाओं की उन्नति होती है। जिस प्रकार दरजी सूई और धागे से वस्त्रों को जोड़ देता है उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष अपनी

बुद्धि की सूर्य से सभा को यथार्थ स्थान पर पहुँचा देते हैं ।

अब दूसरी दशा पर विचार करें । गाने वाला राग अलापता है, यदि तबला अलग हो और हारमोनियम की स्वर ठीक न हो, तो आनन्द नहीं आता । यदि तबला और हारमोनियम का विरोध निकाल दिया जावे तो सब को आनन्द आता है । अपने शरीर को ही ले लीजिये, शरीर में वायु, पित्त और कफ है । इनमें से यदि कोई भी न्यूनाधिक हो तो मनुष्य रोगी हो जाता है । तीनों के मिलाप से ही स्वास्थ्य है । मेल-मिलाप ही संसार को चला रहा है । वेद कहते हैं कि पिता के अनुकूल पुत्र हो, पति के अनुकूल पत्नी हो, भगिनी के साथ भगिनी की प्रीति हो, गुरु के साथ शिष्य का द्वेष न हो, भाई २ के साथ शत्रुता न करे । परन्तु हमारे यहां सब बात ही विपरीत हो रही है ।

दूसरा वेद मंत्र बतलाता है “सहना ववतु सहनौ भुनक्तु ।” परमात्मा उपदेश करते हैं, “हे मनुष्यो, तुमको उचित है तुम मिल कर एक दूसरे की रक्षा करो, कभी परस्पर द्वेष न करो, लड़ाई-झगड़ा तुम्हारे निकट न आये ।” भला इन वेद मंत्रों का निरादर करके कौन शक्ति है जो जीवित रह सके । अतः यदि अपने जीवन को स्थिर रखना चाहते हो तो परस्पर प्रीति बढ़ाओ ।

विश्वास

विश्वास प्रीति का मूल कारण है । जिस के अन्तःकरण में विश्वास नहीं होता उसमें जागृति नहीं आ सकती । बद्रीनाथ की कठिन घाटियों पर चढ़ना सुगम नहीं, परन्तु एक वृद्ध स्त्री जिसके मन में विश्वास है, वह बड़ी फुर्ती के साथ चढ़ जाती है । विश्वास हिन्दुओं में कूट २ कर भरा हुआ है । परन्तु हिन्दुओं के विश्वास में सत्य नहीं इसलिये इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलता । दूसरी ओर आर्यसमाज में सत्य है, परन्तु श्रद्धा और विश्वास नहीं । गुरुकुल के उत्सव में जाने वाले यात्रियों को दो मील पत्थरों पर चलना पड़ता था, परन्तु कई लोग कहते थे इस बार बड़ा कष्ट हुआ, अब न आएंगे । परन्तु दूसरी ओर बद्रीनाथ की घाटियों पर चढ़ने वालों में कितनी श्रद्धा है, सौ सौ मील पैदल चले जाते हैं परन्तु श्रद्धा में कोई भेद नहीं पड़ता । इसलिये आवश्यकता है कि या तो हिन्दुओं का विश्वास आर्यों में आजाय या आर्यों का सत्य हिन्दुओं में चला जावे, तब ही दोनों को सफलता प्राप्त हो सकती है ।

सत्य

विश्वास सदा सत्यवादियों का होता है, झूठे पुरुषों का संसार में कोई विश्वास नहीं करता । एक भांड नकल

किया करता था । उसके पैर में पीड़ा होने लगी, पीड़ा से वह बहुत व्याकुल हो गया, परन्तु लोगों ने समझा कि यह अब भी नकल ही कर रहा है, किसी ने विश्वास न किया । किसी मनुष्य तथा किसी सम्प्रदाय का जीवन तब ही है जब तक उसका विश्वास है । विश्वास गया और जीवन नष्ट हुआ । इसलिये विश्वास को स्थिर रखने के लिये सत्य की आवश्यकता है ।

विद्या

विद्या के बिना सत्य नहीं हो सकता । पंजाबी में एक कहावत है “सौ स्याने एक मत्त”, विद्वानों का एक मत होता है ।

अकबर ने इस सत्यता की परीक्षा के लिये बीरबल से कहा । बीरबल ने कहा कि आप सारे मन्त्रि-मंडल तथा अन्य विद्वानों को आज्ञा दें कि रात्रि के समय प्रत्येक पुरुष एक लोटा दूध का अमुक हौज में डाल दे । सारे विद्वान् थे । सबने यही विचारा कि जब सब दूध डालेंगे तो मेरे एक जल के लोटे से कुछ प्रतीत न होगा । इस विचार का परिणाम यह हुआ कि जब अकबर हौज देखने गया तो हौज जल से भरा था, उसमें दूध का नाम न था । उस समय बीरबल ने कहा, देखो महाराज, सारे विद्वानों का एक मत होता है । यह एक कथा थी,

इसको जाने दें । क्या आप नित्यप्रति नहीं देखते कि जब एक परीक्षक श्रेणी को प्रश्न का उत्तर देने की आज्ञा देता है तो जो विद्यार्थी ठीक उत्तर देते हैं उनका उत्तर एक होता है, परन्तु जो अशुद्ध उत्तर देते हैं उनमें से प्रत्येक का उत्तर भिन्न २ होता है । संसार में जितनी भूल बढ़ेगी उतने ही मत बढ़ेंगे ।

वेदों में सत्यता है । उपनिषदों से पूर्व जब वेदों का काल था, सैंकड़ों ऋषि विद्यमान् थे । यदि १०-१० ऋषि भी एक-एक मत निकालते तो कई मत प्रचलित हो जाते परन्तु हम देखते हैं कि उस समय एक वेदोक्त मत का प्रचार था । जूँ ही वैदिक धर्म शिथिल हुआ, हजारों मत-मतान्तर हो गये ।

सूर्य-रूपी स्वाभाविक लैंप के विद्यमान् होने से किसी और लैंप की आवश्यकता नहीं रहती परन्तु ज्यों ही सूर्य अस्त हुआ लोगों ने गैस-लैम्प जलाया । क्यों ? केवल इसलिये कि परमात्मा का सूर्य रूपी लैंप विद्यमान् नहीं । अब इस रात्रि के समय यदि आप किसी को कहें कि अपना दिया बुझा दे तो वह लड़ाई को उद्यत होगा, परन्तु ज्यों ही सूर्य उदय होगा सब लोग अपने २ लैंपों को बुझा देंगे, उस समय किसी को कहने की आवश्यकता न रहेगी । इसी प्रकार आप लोगों को ईसाइयों

और यवनों से लड़ने-भगड़ने की आवश्यकता नहीं । वैदिक धर्म के नियमों को उच्च कर दो, अपने धर्म को सारे संसार में फैला दो, सारे मत-मतान्तर स्वयम् दूर हो जावेंगे । जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख छोटे २ लैम्प कोई स्थान नहीं रखते, इसी प्रकार वैदिक धर्म रूपी सूर्य के सामने इन मतों की कोई स्थिति न रहेगी ।

ऊष्ण ऋतु में जब कि स्वाभाविक वायु की न्यूनता होती है, लोग पंखे हिलाते हैं । परन्तु शीत ऋतु में जब कि स्वाभाविक वायु अधिक होती है कोई मूर्ख से मूर्ख भी पंखे की वायु सेवन करने को उद्यत नहीं होता । इसलिये जिस समय वैदिक धर्म रूपी वायु का जोर होगा कोई भी इन कृत्रिम पंखों को न चाहेगा ।

उपदेश का फल क्यों नहीं होता ?

लोग कहते हैं कि हम तो उपदेश सुनते २ थक गये हैं । निःसन्देह आपका थकना आवश्यक है । जिस तरह एक एन्ट्रेस का विद्यार्थी बारम्बार अनुत्तीर्ण होने पर अपने अध्यापक को कहता है कि मैं तो यह कोर्स रटते २ थक गया, परन्तु अध्यापक उसे परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं करता । ठीक इसी प्रकार हम उस विद्यार्थी की न्याई अनुत्तीर्ण हो रहे हैं और कहते हैं कि हम थक गये । अब ग्राम निवासियों में प्रचार करके उनको उपदेश सुनाओ ।

भला कहो तो सही कि जिस उपदेश से तुम थक गये हो वे न थक जायेंगे ? जब यह उपदेश तुम को कोई लाभ नहीं पहुँचा सका तो उससे उनको क्या लाभ होगा ? जब मैं नवीन वेदान्ती था तो मेरे गुरु स्वामी शिवप्रसाद प्रति-दिन यही रटते थे कि 'रज्जु से (रस्सी) सर्प का भ्रम होता है ।' परन्तु लोग दूर २ से आकर उनके इसी उपदेश को श्रवण करते थे । यहां तो यह दशा है कि सात दिन पीछे समाज का अधिवेशन होता है परन्तु हम लोगो को उसमें भी सम्मिलित होने का अवकाश नहीं मिलता । हममें धर्म के लिये श्रद्धा का लेशमात्र नहीं है । जब गौ के आगे घास डाला जाता है तो पहिले जल्दी २ उसे खा जाती है उसके पीछे धीरे २ जुगाली करती है । यही जुगाली उसके पालन-पोषण और उसके दूध का कारण होती है । इसी प्रकार उपदेश को सुन लेना घास को जल्दी से खा लेना है परन्तु उसकी नित्यप्रति चर्चा करना और उसको मनन करना ही जुगाली करना है । उपदेशों से मन इसलिये उचाट हो जाता है कि हम उनका मनन नहीं करते । सत्य की सदा जय है और यही सीधा मार्ग है परन्तु इस पर अधिकार जमाना बड़ा कठिन है । विद्या के बिना सत्य पर अधिकार नहीं जम सकता । इसलिये ब्राह्मणों ने विद्या को गृहण किया । वे धन की ओर नहीं

भुके । उन्होंने राज्य नहीं लिया । इसलिये परमात्मा ने पहिले चार ब्राह्मणों को उत्पन्न किया । ब्राह्मण होंगे तो क्षत्रिय, वैश्य वह स्वयं उत्पन्न कर लेंगे, परन्तु क्षत्रिय, ब्राह्मण उत्पन्न नहीं कर सकते । एक कथा है कि एक बार सिकन्दर और अरस्तु सफर में निकले । मार्ग में एक समुद्र पड़ा, जो बहुत वेग में था । अरस्तु ने सिकन्दर को कहा कि पहिले आप नैया में बैठ कर पार हो जायें फिर मैं आ जाऊँगा । परन्तु इस बात को सिकन्दर न माना और पहिले अरस्तु को भेज दिया । जब दोनों एकत्र हुए तो अरस्तु ने कारण पूछा । सिकन्दर ने उत्तर दिया कि अरस्तु सिकन्दर उत्पन्न कर सकता है, परन्तु सिकन्दर अरस्तु को नहीं उत्पन्न कर सकता ।

सदाचार

विद्या सदाचार से प्राप्त होती है । जिस विद्या के साथ सदाचार नहीं, वह विद्या अविद्या में परिवर्तित हो जाती है । जिस प्रकार दूध में खटाई पड़ जाने से दूध फटकर अपनी यथार्थ दशा में नहीं रहता उसी प्रकार जिस विद्या के साथ सदाचार नहीं वह विद्या अपने स्वरूप को छोड़ देती है । इसीलिये तो मनु ने विद्या के साधन तप को आवश्यक ठहराया है । दियासलाई से जहां हमें प्रकाश मिलता है वहां चोर भी अपने काम में इससे

सहायता लेते हैं, अब इसमें प्रकाश अथवा दियासलाई का दोष नहीं। विद्या के साथ शारीरिक बल की बड़ी आवश्यकता है। परन्तु हमारी युवक-मण्डली के शारीरिक बल की यह दशा है कि यदि वायु सेवन की जावे तो भी बाईसिकल पर। आजकल धनवानों का सुख और व्यवहार (फैशन) निर्धनों के लिये बड़ा दुःखदाई हो रहा है। एक धनी चाहे वह निरक्षर ही क्यों न हो, कोट बूट पतलून पहन कर तत्काल स्टेशन पर चला जाता है और उसको कोई नहीं रोकता। परन्तु मेरे जैसा रङ्ग चाहे उस से कितना विद्वान हो अन्दर नहीं जा सकता। एक धनी के पड़ोस में निर्धन के बच्चे भूख से तड़प रहे हों परन्तु उसको दया नहीं आती, वह बड़े आनन्द से घर में लेटा पड़ा है। प्रयाग के कुम्भ में बड़े २ साधुओं को जिनके पास पहिले ही कमल और लोईयां होती हैं, धनी लोग वस्त्र देते हैं। परन्तु वे निर्धन साधु जो शीत से तड़पते हैं उनको कोई नहीं पूछता।

भर्तृहरिजी कहते हैं कि सत्यगुणी पुरुषों के लिये मोक्ष का द्वार खुल जाता है। एक ही ज्ञान की बूँद उन मनुष्यों के लिये सुखमय बन जाती है जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, परन्तु वही बूँद उनके लिए दुःखमय होती है जिन्होंने इन्द्रियों को नहीं जीता।

मैंने आपको बतलाया है कि विद्या तब ही सुखकारिणी हो सकती है जब वह यथाविधि नियमानुसार और सदाचारपूर्वक प्राप्त की जावे। संसार में मूर्ख इतना अत्याचार नहीं फला सकते जितना कि सदाचार-रहित विद्वान्। यदि एक मूर्ख मद्यपान करे तो लोग कहेंगे यह मूर्ख है, उसको समझ ही नहीं। यदि कोई पढ़ा-लिखा मद्यपान करता हुआ देखा जावे तो लोग उससे इसका कारण पूछेंगे ? वह अपनी निर्बलता को छिपाने के लिये मद्य के प्रति युक्तियां प्रस्तुत करेगा। सर्वसाधारण उसके फन्देमें फंसकर मद्य का सेवन आरम्भ कर देंगे, संसार में अत्याचार फैलेगा। इसके प्रमाण में आप 'महिधर' को देख लें जिसने अपने भाष्य के द्वारा भारत में मद्य-माँस का प्रचार किया है। परमात्मा करे विद्वान् आचारहीन न हों क्योंकि संसार में अनुकरण विद्वानों का होता है, मूर्खों का नहीं।

स्वामी दयानन्द से पूर्व काशी में शतशः बड़े २ पण्डित विद्यमान् थे परन्तु किसी को देश की हीन अवस्था का ध्यान न आया। परन्तु ऋषि दयानन्द देश की दुर्दशा को देखकर तड़प उठा। विद्या को संस्कृत के विद्वानों ने स्त्रीलिङ्ग माना है, इसका पति सदाचार है। विद्या और सदाचार के समागम से जो सन्तान

उत्पन्न होती है उसका नाम ज्ञान और पुरुषार्थ है । कवि कहता है—

पुरुषार्थ नहीं जिस पुरुष में

वह पुरुष वृथा आकार है ॥

पुरुषार्थ बिना उस पुरुष के

जीवन पे शत धिकार है ॥

मैंने आपको बतलाया कि सुख-प्राप्ति के लिये सब से पूर्व विद्या की जरूरत है । विद्या के साथ सदाचार आवश्यक है । फिर विश्वास, विश्वास के साथ प्रीति, और परस्पर प्रीति का परिणाम सुख है ।

विवेक और वैराग्य

संसार की अवस्था देखने में कुछ और है, परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप कुछ और ही है। नैयायिकों का सिद्धान्त है कि संसार एक चक्र की तरह घूमता है। इस चक्र के सिरे का कुछ पता नहीं लगता, दो मिनट में जो सिरा ऊपर होता है वही फिर नीचे हो जाता है। इसी बात को फ़ारसी में 'हर क़माले लाज़वाले' कहा गया है। परन्तु साधारण लोग इसको नहीं समझते। कभी भारत का उदय-काल था। पर जिसका उदय हुआ उसका अस्त होता है। अब कोई पूछे कि अस्त क्यों हुआ, तो इसका उत्तर क्या दिया जा सकता है ? किसी का पिता मर गया था, लोग शोक प्रकट करने आए और कारण पूछने लगे कि क्यों मरा, कैसे मरा ? पुरुष विचारशील था, उत्तर दिया, जो उत्पन्न हुआ उसने एक दिन मरना था, सो मर गया। परन्तु ऐसे उत्तर से लोग अप्रसन्न हो जाते हैं। यदि वही कह दे कि दो दिन ज्वर आया था मर गया तो उनको संतोष

आ जाता है और फिर आगे प्रश्न नहीं होता । संसार तो कारण पूछता है । इसी बात को महात्मा भर्तृहरिजी कहते हैं कि जिनका विवेक भ्रष्ट हो जाता है वे स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं । जो मनुष्य व जाति विवेकयुक्त होती है वह संसार के सुखों से लेकर परमेश्वर तक को प्राप्त करेगी । परन्तु जिसका विवेक भ्रष्ट हो जायगा उसको परमात्मा की प्राप्ति तो क्या संसार के सुख भी नहीं मिलते ।

विवेक क्या है ?

आप पूछेंगे विवेक क्या है ? आपने सिपाहियों को चाँदमारी करते कई बार देखा होगा । चाँदमारी में कई सिपाही निशाना लगाने के लिये लक्ष्य बाँधते हैं, परन्तु निशाना उसी का लगता है जिसका लक्ष्य ठीक नेत्रों के सामने हो । परन्तु जिसका लक्ष्य भ्रष्ट हो जाय वह चाहे कितना ही यत्न क्यों न करे उसका निशाना नहीं लगता । लक्ष्य का भ्रष्ट होना व न होना परिणाम से जान पड़ता है । इसी का नाम विवेक है । एक कवि ने विवेक का यह लक्षण किया है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—यह चार पदार्थ जिसके लक्ष्य रहते हैं वह विवेकी पुरुष है, परन्तु जिस पुरुष के जीवन में न धर्म, न अर्थ, न काम और न मोक्ष की भावना

है, उस पुरुष का जीवन उस बकरी [अजा] की न्याई है जिसके दो स्तन तो हैं परन्तु दूध नहीं; ऐसे पुरुष विवेक-भ्रष्ट होते हैं ।

विवेक का महत्त्व

“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” यह वेदान्त का एक सूत्र है, अर्थात् इसके अनन्तर ब्रह्म के जानने की इच्छा करनी चाहिये । किसके अनन्तर ? इन चार सिद्धान्तों के अनन्तर जिनका मैंने पहले वर्णन किया है । इन चार सिद्धान्तों में पहला साधन विवेक है । अपने हित और अहित का विचार ही विवेक है ।

अब मैं आपसे पूछता हूँ कि हममें विवेक कहाँ है ? विवेक के पश्चात् वैराग्य होता है । जिसमें विवेक नहीं उसमें वैराग्य भी नहीं हो सकता । अंग्रेजी पढ़े लिखों में विवेक तो थोड़ा बहुत पाया जाता है परन्तु वैराग्य उनमें नामनात्र का भी नहीं । वे कहते हैं कि वैराग्य ने देश का सत्यानाश कर दिया है, यह बात किसी अंश में तो ठीक है, परन्तु सर्व अंशों में सत्य नहीं । आप लोग जिन साधुओं को वैरागी समझ रहे हैं, वे वैरागी नहीं हैं, वे मूढ़ तो देश के लिये भार हैं ।

वैराग्य क्या है ?

एक विद्यार्थी जब विद्या समाप्त कर लेता है तब

उसको विवेक होता है। और शास्त्रों में लिखा भी है कि ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और तत्पश्चात् संन्यास यह एक लाइन है। परन्तु दूसरी लाइन हमारे शास्त्रों ने यह बतलाई है कि जिस समय वैराग्य हो उसी समय संन्यास ले लेना चाहिये परन्तु यह भी ब्रह्मचर्य और विद्या-समाप्ति के पश्चात्, क्योंकि विद्या-समाप्ति के पश्चात् मनुष्य को विवेक हो जाता है और वह अपने शुभाशुभ को जानने लगता है। विवेक के पश्चात् यदि अपना हित गृहस्थ में समझे, गृहस्थी बन जाए, और वैराग्य उत्पन्न हो जाए तो संन्यास धारण कर ले, जैसे स्वामी शंकराचार्य ने किया।

स्वामी शंकराचार्य का संन्यास

विद्या समाप्त करने के पश्चात् स्वामी शंकराचार्य को देशोद्धार की चिन्ता हुई, और गृहस्थ से वैराग्य हो गया। वे अपनी माता के पास आए और कहा—माता, मुझे आज्ञा दे मैं संसार का उद्धार करूँ। माता प्रेम के वश में हुई आज्ञा नहीं देती। पुत्र वेद का विद्वान् है, माता की आज्ञा को भङ्ग करना भी नहीं चाहता। एक ओर माता की आज्ञा दूसरी ओर संसार को उल्टे मार्ग से बचाने की कामना; चित्त व्याकुल हो गया, दिन रात इसी चिन्ता में लीन रहता है। एक दिन अपने साथियों

के साथ तालाब पर नहाने गए। साथी तालाब में खेल-कूद रहे हैं परन्तु उनको वही चिन्ता घेरे हुए है। सोचते-सोचते उन्हें ढंग सूझ गया और उन्होंने अपने साथियों से कह दिया कि मेरा पांव संसार ने पकड़ लिया है। उनका यह कहना था कि सब साथी तालाब से निकलकर भाग गए और उन्होंने शंकराचार्य की माता को जाकर कहा। वह रोती हुई तालाब पर आई, शंकराचार्य ने कहा, माता घबरा मत मुझे संसार कहता है, यदि तेरी माता तुझे घर से निकलने की आज्ञा दे देवे तो छोड़ देता हूँ अन्यथा नहीं। माता ने सोचा यदि आज्ञा नहीं देती तो संसार पुत्र को निगल जायगा, यदि आज्ञा दे दूँ तो कभी न कभी देख ही लिया करूँगी। उसने कहा, पुत्र मैं तुम्हें आज्ञा देती हूँ। वे तालाब से बाहर निकल आए और उसी दिन से संसार के उद्धार में लग गए।

मैंने आपको बतलाया कि वैराग्य व संन्यास ब्रह्मचर्य के पश्चात्, और वानप्रस्थ दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। यदि ब्रह्मचारी समझे कि मैं अपनी इन्द्रियों पर विजय नहीं पा सकता तो उसका उपाय गृहस्थ है, और यदि वह सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं को मारकर संसार का उपकार कर सकता है तो संन्यास ले लेवे।

अब मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि क्या सचमुच वैराग्य सत्यानाश करने वाली वस्तु है। गृहस्थ में प्रवेश करके मनुष्य के लिये उपदेश है कि वह अपनी पत्ना से तो राग करे परन्तु शेष सब स्त्रियों को माता और भगिनी जानकर उनसे वैराग्य करे। क्या यह वैराग्य देश का सत्यानाश करने वाली वस्तु है? दुःख तो यह है कि जहाँ हम अपनी स्त्री में राग करते हैं वहाँ हम दूसरी स्त्रियों से भी राग करने लग जाते हैं। वैराग्य संसार की व्यवस्था को ठीक रखने का साधन है; जैसा कि ऋषि दयानन्द ने वैराग्यवान् होकर किया।

एक ब्रह्मचारी गुरुकुल से पढ़कर आ रहा था, उसकी जेब में पन्द्रह स्वर्ण-मुद्रिकाएं थीं। ठग ने रास्ता रोककर पूछा, बतला तेरे पास क्या है? ब्रह्मचारी ने पन्द्रह मुद्रिकाएं निकालकर दिखला दीं। ठग ने पूछा, तुमने मुझे सच सच क्यों बतलाया है? ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, मुझे गुरुकुल में यही शिक्षा मिली है! इस बात का ठग के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा और बोला—सज्जन, मुझे भी कुछ उपदेश कर। ब्रह्मचारी ने कहा, ठगी छोड़ दो! और उसने उस निन्दित कर्म को छोड़ दिया। यही दशा वाल्मीकि ऋषि की हुई थी।

परन्तु हम आप प्रतिदिन उपदेश सुनते हैं, कुछ

फल नहीं होता, क्योंकि हममें न विवेक है, न वैराग्य । महाराज भर्तृहरि एक प्रश्न करते हैं और आप ही उसका उत्तर देते हैं कि क्या कारण है कि एक मनुष्य उपदेश सुनकर सुधर जाता है और दूसरा बिगड़ जाता है । वे बतलाते हैं कि जिसके अन्तःकरण में सतोगुण की वृत्ति है उसको ज्ञान का एक बिन्दु तार देता है और जिसके अन्तःकरण में तमोगुण का राज्य है उस पर उपदेश का एक बिन्दु उसके अन्धकार को बढ़ा देता है ।

ईश्वर-भजन के प्यारे एकान्त को बहुत पसन्द करते हैं परन्तु चोर और यार भी प्रत्येक समय में एकान्त की खोज में रहते हैं । भक्त तो ईश्वरभक्ति के लिये एकान्त पसन्द करते हैं परन्तु चोर और यार चोरी और यारी के लिये । अब इसमें एकान्त का क्या दोष ?

इसीलिये कहा है कि पहले अन्तःकरण को शुद्ध करो, फिर प्रत्येक वस्तु अपनी वास्तविक अवस्था में दिखाई देगी । संध्या, स्वाध्याय, सत्संग, सब काम विवेक के हैं । महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सब विवेकी थे । जितना जितना किसी में अधिक विवेक होगा उतना ही वह अधिक महान् होगा ।

बुद्ध के जीवन की घटना

महात्मा बुद्ध जब घर से निकलने वाले थे तो उनके पिता ने समझाया, कि पुत्र ! मैं वृद्ध हो गया हूँ, मेरी सेवा तेरा धर्म है। बुद्ध ने उत्तर दिया, मैं केवल एक वृद्ध की सेवा नहीं चाहता, परंच संसार भर के बूढ़ों की सेवा का व्रत धारण करना चाहता हूँ। फिर उन्हें कहा गया कि तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है इस लिये अब घर छोड़ना उचित नहीं। उत्तर दिया, इस बालक ने मुझे उपदेश दिया है, कि घर से शीघ्र निकल क्योंकि यह कन्या और पुत्र बन्धन की कड़ियाँ हैं, जितनी अधिक होंगी उतनी ही कसकर जकड़ लेंगी। मैंने आपको बतलाया कि अन्तःकरण की निर्बलता से जीवात्मा निर्बल हो जाता है, और मलीनता से मलीन हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आत्मा को मलीन करने वाली वृत्तियाँ हैं। इसके लिए एक उदाहरण देता हूँ। आपने एक बगीचे में आम्र, नीम्बु और मिर्च के पौदे लगाये हैं, आकाश से उनपर जल बरसाता है। एक के लिये वही जल मीठा रस बनाता है, दूसरे के लिये अम्ल और तीसरे के लिये कड़वा रस बनाता है। अब इसमें जल का क्या दोष ? जिस गुण वाले पौदे पर पड़ा उस पर वैसा प्रभाव डाला।

एक उदाहरण

एक स्थान पर एक पण्डित महाभारत की कथा कर रहे थे । कथा की समाप्ति पर किसी ने उससे कुछ शिक्षा ग्रहण की और किसी ने कुछ । एक बनिया भी उनमें कथा सुन रहा है । पण्डितजी ने उससे पूछा कि क्यों भाई, तुमने क्या शिक्षा ग्रहण की ? उसने उत्तर दिया कि अपने भाइयों का माल जी खोलकर उड़ाएँ और मर जाएँ, परन्तु लड़े बिना उनका धन वापस न करें । यह है अन्तःकरण की मलीनता ।

अन्तःकरण की शुद्धि अत्यावश्यक है

यदि प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरण की शुद्धि में लग जाय, तो सारा संसार थोड़े दिनों में सुधर जाय । परन्तु हम लोग करते क्या हैं ? बूट, कपड़े और बाई-सिकल की सफाई के लिये तो दो-दो घण्टे नित्यप्रति लगा देते हैं, किन्तु अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिये पंद्रह मिनट भी प्रतिदिन नहीं देते । बताओ, इस भारी समाज में कितने मनुष्य हैं जो सच्चे हृदय से दस मिनट भी रोज अपने मन को शुद्ध करने में देते हैं ? यदि तुम लोग यत्न ही नहीं करते, तो फिर यह कहना कि हमारे मन शुद्ध नहीं होते, भक्ति और सन्ध्या में जी नहीं लगता,

कहाँ तक ठीक है। बात तो तब है कि यदि आप मन से नित्यप्रति समय दें और फिर अन्तःकरण शुद्ध न हो।

घोर अंधेरे की रात्रि में आप चल रहे थे, मार्ग दिखाई न देता था, पग-पग पर ठोकरें खाते थे, उस समय परमात्मा की कृपा हुई, और बिजली जोर से चमकी, और मार्ग दिखलाकर चली गई। अब यदि आप यह चाहें कि बिजली आपके पास ठहरी रहे तो यह हो नहीं सकता। यही दशा धार्मिक जगत् की ऋषि दयानन्द के आने से पहले थी। सारा संसार अंधकार में था, परमात्मा की कृपा हुई, ऋषि दयानन्द जगत् में आए और मार्ग दिखलाकर चले गये। अब आप लोग चाहते हैं कि वे हमारे पास बैठे रहते अथवा हमें फिर आकर जगाएँ। यह नहीं हो सकता। यदि आपने उस समय प्रकाश नहीं लिया तो अब आपसे क्या आशा हो सकती है? इस लिये समय है कि अब भी सम्भल जाओ और समझ कर संसार का मुकाबिला करो। मैं शरीर की शुद्धि का विरोधी नहीं, परन्तु शरीर के साथ यदि अन्तःकरण की शुद्धि नहीं तो शरीर की शुद्धि किसी काम की नहीं। अन्तःकरण की शुद्धि सच्चा विवेक है जिससे मनुष्य अपनी हानि और लाभ को समझ सकता है।

ब्रह्मचर्य

सज्जन पुरुषो ! वेद में एक मंत्र आया है, जिसमें बतलाया गया है कि विद्वान् कौन है, और रोगी कौन है ? पहला प्रश्न इसमें यह किया गया है कि विद्वान् कौन है ? उत्तर दिया गया है—अर्थवत्, जिसमें अर्थ विद्यमान है, जो अर्थहीन एक भी बात नहीं कहता । दूसरा प्रश्न यह है कि रोगी कौन है ? उत्तर है, अधातु अर्थात् जिसमें धातु (वीर्य) नहीं । धातु का अर्थ विश्वास भी है । जिसका संसार में विश्वास न रहे, वह भी रोगी है । विद्वान् के चिह्न एक और श्लोक में भी वर्णन किये हैं । इसमें बतलाया गया है कि जिसका आचार तथा विचार, उक्ति और कृति, मन्तव्य और कर्त्तव्य एक हों, वह विद्वान् है । इस कसौटी के अनुसार आप देख लें कि आप में कितने विद्वान् हैं ? हम लोग कहते कुछ और करते कुछ हैं परन्तु कर्त्तव्य से कुछ और दिखलाते हैं । मन के विचार कुछ और हैं परन्तु प्रकट कुछ और ही करते हैं । प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हो

गया ? उत्तर स्पष्ट है कि लोग गिर गए हैं । यह तो हुई उक्ति और कृति । अब आचार तथा विचार को देख लो, इसमें बड़ा भारी भेद है । अंग्रेजी लिखे-पढ़ों का तो सिद्धान्त ही यह है कि पब्लिक लाइफ (Public life) और, तथा प्राइवेट लाइफ (Private life) और । उनकी आभ्यन्तरिक अवस्था तो कुछ और है, परन्तु बाहर दिखाने के लिये कुछ का कुछ बनकर दिखाते हैं । यह केवल अंगरेजी शिक्षा का ही फल नहीं परंच भारत के पतनकाल में तांत्रिक लोगों ने भी ऐसा मत निकाला था, कि गृह में तांत्रिक, सभा में जाकर वैष्णव, मंदिर में जाकर शिव के उपासक अपने को प्रकट करना । यही अवस्था आजकल के लोगों की है । दुःख के साधनों को दूर और सुख के साधनों को प्राप्त करने का नाम अर्थ है और जो इस अर्थ को धारण करता है, वही सच्चा विद्वान् है ।

रोगी कौन है ?

जिसकी धातु पुष्ट न हो उसको रोगी कहते हैं । संपूर्ण समाचारपत्रों को उलट कर देख लो, धातु पुष्ट करने वाली औषधियों से भरे पड़े हैं और इन्हीं विज्ञापनों के सिर पर समाचार-पत्र चल रहे हैं ॥ चाँदी, लोहा आदि

धातुओं को भी धातु कहते हैं, क्रिया को भी धातु कहते हैं और वीर्य को भी धातु कहते हैं। जैसे क्रिया के बिना पद नहीं बन सकता, इसी प्रकार वीर्य के बिना जीवन नष्ट हो जाता है। भारतवर्ष में एक भारी भूल पड़ रही है, यहाँ अग्नि के बुझाने के लिए उस पर तेल डाला जाता है। धातु की न्यूनता से तो सारी व्याधियाँ हैं, परन्तु फिर उसका इलाज ऐसी औषधियों से किया जाता है, जो धातु को जोश देकर जला देती हैं। औषधियों से संतान उत्पन्न की जाती है, और फिर आशा की जाती है कि वह स्वस्थ रहे।

जिसकी धातु में दोष आ गया हो उसका एक ही यत्न है और वह यह है कि वह एक वर्ष तक मन, वाणी और कर्म से ब्रह्मचारी रहे, सब दोष दूर हो जाएँगे। परन्तु एक कवि ने कहा—‘पन्दे हक कड़वी लगे इनसान को, अफसोस आह !’

इन बातों को सुनता कौन है ? जिस प्रकार कुपथ्य करने वाला रोगी वैद्य को कसाई की तरह देखता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य आप को बुरा लगता है। समग्र रोग आपने स्वयं उत्पन्न किये हैं; परमात्मा ने उनको उत्पन्न नहीं किया।

इस समय के जितने भी रोग हैं; वे मनुष्यों ने स्वयं सहेड़े हैं और अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि सौ में निन्यानबे मनुष्य धातु के रोग में ग्रस्त हैं ।

इसीलिये यदि आप इन रोगों से बचना चाहते हैं तो ब्रह्मचारी बनी !

अफलातून का पुत्र जब बहुत बड़ा हो गया तो अफलातून की स्त्री को एक और पुत्र की इच्छा हुई । उसने पुत्र को सिखलाया और पुत्र ने अपने पिता से कहा कि यदि मेरा एक भाई और हो जाय तो क्या ही अच्छा हो, हम दोनों खेलें ।

अफलातून ने उत्तर दिया कि जाओ मैं पहले पछता रहा हूँ, यदि मैं तुम्हें उत्पन्न न करता तो मैं संसार में अकेला होता और मेरा सारा मस्तिष्क फिलासफी में लग जाता । प्राचीन विद्वान् लोग वीर्य की इतनी कदर करते थे परन्तु हम वीर्य को ऐसा समझते हैं जैसा नाक से मल साफ कर दिया ।

स्वामीजी के जीवन की एक कथा

पिछले देहली दरबार में जब मैं गया, तो ग्वालियर के एक मारवाड़ी ने मुझे स्वामी जी के जीवन की कथा सुनाई । उसने बतलाया कि स्वामी जी के उपदेशों की

चर्चा सुनकर एक प्रतिष्ठित मुसलमान भी उनके पास गया, परन्तु उसका मुख सर्वदा उदास रहता था। स्वामी जी ने कारण पूछा। उसने उत्तर दिया मेरे कई बच्चे हुए हैं परन्तु जीता कोई नहीं है इसलिए मन सर्वदा उदास रहता है। स्वामी जी ने कहा कि उपाय तो हम बतला देते हैं परन्तु है कुछ कठिन, यदि तुम करो तो हम विश्वास दिलाते हैं कि तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न होगा और जीता रहेगा। उसने स्वामी जी के चरण पकड़ लिये और कहा कि महाराज जो कुछ आप कहेंगे, मैं करूंगा। स्वामी जी ने कहा कि सब से बड़ी शर्त एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखने की है, यदि यह स्वीकार हो तो अपनी स्त्री से पूछ कर आओ कि वह भी स्वीकार करती है अथवा नहीं। वह घर गया और दूसरे दिन आकर कहा कि महाराज हम दोनों स्वीकार करते हैं। स्वामी जी ने गर्म वस्तुएँ, मांस, मदिरा आदि छोड़ने के लिये कहा। एक वर्ष उन्होंने ब्रह्मचर्य करके पुत्र उत्पन्न किया और वह इस समय उनके घर में जीवित है। ब्रह्मचर्य से वीर्य के सब दोष दूर हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य जैसा पुरुष के लिये है वैसा स्त्री के लिये भी आवश्यक है। आपने ईंटें बनती कई बार देखी होंगी। यदि मिट्टी नर्म हो तो भी ईंट खराब हा जाती है, यदि

सांचा ढीला हो तब भी ईंट टेढ़ी हो जाती है। यदि सांचा और मिट्टी दोनों ही खराब हों तब तो क्या कहना है। यही दशा मनुष्य के बच्चे की है, जब तक स्त्री और पुरुष दोनों दोष-रहित न हों बालक बलवान् उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्तुओं को परमात्मा ने एक-एक गुण दिया है, कोकिल का कण्ठ सुरीला, तोते का नाक अच्छा, मृग के नयन सुन्दर, परन्तु मनुष्य के बच्चे में ईश्वर ने सम्पूर्ण गुण इकट्ठे कर दिये हैं। अब यदि हम अपने दुष्कर्मों से उन्हें खराब उत्पन्न करें तो इसमें परमात्मा का क्या अपराध? प्राचीन काल में मनुष्य ऐसे उत्पन्न नहीं हुआ करते थे जैसे कि आजकल के हम हैं।

प्राचीन काल के आदर्श भीम, अर्जुन, राम और हनुमान जैसे मनुष्य थे और यह केवल ब्रह्मचर्य का प्रताप था। अब भी यदि दुष्ट विचारों की ठोकर न लगे तो पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखना कोई बड़ी बात नहीं।

विश्वास की आवश्यकता

विद्या और ब्रह्मचर्य के पश्चात् तीसरी आवश्यक बात प्रत्यय अर्थात् विश्वास है। जितना जगत् में किसी का विश्वास है उतना ही उसका गौरव है। जिस प्रकार वृक्षों के लिए जल है उसी प्रकार मनुष्यों के लिए विश्वास है। इसलिये सब से पहले अपने आप पर विश्वास करो।

जब तुम्हें अपने पर विश्वास नहीं तो दूसरों को कैसे तुम्हारा विश्वास होगा ? जो जाति विश्वास से शून्य हो जाती है उसका कोई ठिकाना नहीं रहता; संसार में वह नीच समझी जाती है ।

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक में एक शोक-जनक गाथा लिखी है । वे लिखते हैं, जापान में जब कोई भारत-निवासी जाता तो वे उसका बड़ा आदर सम्मान करते और छाती से लगाते थे । वहाँ एक बड़ी भारी लाईब्रेरी है जिसमें हरएक को जाने की आज्ञा नहीं, परन्तु भारत-निवासियों के लिये उसका भी दरवाजा खुला था, परन्तु एक ऐसी शोक-जनक घटना हुई जिसने सदा के लिये उस लाईब्रेरी का दरवाजा भारतीयों के लिए बन्द कर दिया और उनका विश्वास खो दिया । एक बार लाईब्रेरी में एक भारत-निवासी पुस्तक पढ़ रहा था । पुस्तक का एक पृष्ठ उसे ऐसा पसन्द आया कि आँख बचाकर उसने वह पृष्ठ फाड़ लिया और चल दिया, परन्तु देख-रेख पर पकड़ा गया और उसी दिनसे भारतीयों के लिये उस लाईब्रेरी का दरवाजा बन्द हो गया ।

यही दशा धर्म की है, प्रत्येक मनुष्य को यह समझना चाहिए कि जितना मैं उन्नत हूँगा उतना मेरा धर्म उन्नति करेगा, और जितना मैं दुष्कर्म करूँगा उतना

ही अपयश मेरे धर्म का होगा । स्वामी जी ने भी अपनी पुस्तकों में परस्पर-विश्वास पर बड़ा बल दिया ।

शुक्र का उदय और अस्त

आजकल जो पत्रियाँ वर्तमान हैं उनमें एक बड़ी विचित्र बात होती है । लिखा होता है, कि अमुक मास में शुक्र का उदय होगा और अमुक मास में अस्त । शुक्र के उदय के मास में विवाह होते हैं, शेष में नहीं । वे शुक्र से शुक्र तारे का अर्थ लेते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है । विवाह का तारे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं और यदि तारे से प्रयोजन होता तो आज हिन्दुओं में असंख्य विधवाएँ दिखाई न देतीं । यहाँ शुक्र से अभिप्राय है वीर्य का, अर्थात् उस पुरुष से विवाह कराना चाहिए जो वीर्यवान् हो, जिसका शुक्र व वीर्य उदय हो । जिनका शुक्र उदय होता है, उनके मुखमंडल पर सेव की तरह लाली आ जाती है, परन्तु यहाँ मैं देखता हूँ सब के चेहरों पर स्याही और जर्दी छा रही है । वही मनुष्य सफल होते हैं जिनमें विद्या, ब्रह्मचर्य और विश्वास—तीनों गुण होते हैं ।

मनुष्य-जीवन की सफलता

सज्जन महानुभावो ! वेद कहता है, परमेश्वर महान् है । सब पदार्थ उसके गर्भ में हैं । मनुष्यमात्र के लिये उसी की पूजा-उपासना करनी चाहिये । उसका विज्ञान तारा-मण्डल के देखने से पूर्ण प्रतीत होता है । जैसे प्रत्येक वृक्ष का आधार उसका मूल है उसी प्रकार समस्त संसार का आधार परमेश्वर है । संसार के सारे पदार्थ परिवर्तन-शील हैं परन्तु परमात्मा एकरस है । जिसको यह आवश्यकता हो कि वह एक जैसा रहे, उसको उचित है कि वह परमात्मा की उपासना करे । जीवात्मा की उन्नति के लिये उसकी उपासना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं ।

स्वार्थ-त्याग ही सफलता की कुञ्जी है

जब तक मनुष्य से स्वार्थ का परित्याग न हो जाय, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती । एक परिवार अथवा देश क्यों बिगड़ जाता है, इसलिये कि उसमें स्वार्थ की मात्रा बढ़ जाती है । जितनी खुदगर्जी किसी में बढ़ जायगी उतना ही शीघ्र वह नष्ट हो जायगा । स्वार्थ का त्याग

ही मनुष्य के सुधार का सच्चा मार्ग है। वेदों और उप-निषदों में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। अमरीका और अन्य उन्नत देशों की अवस्था सुनकर हमारे मुँह में भी पानी भर आता है; परन्तु हम उन साधनों पर विचार नहीं करते जिनकी कृपा से उन्होंने उन्नति की है। एक रूप में तो हमारा देश भी इस समय अमरीका बना हुआ है। अमरीका में एक रुपये का तीन छटाँक से अधिक घी नहीं मिलता। अब यहाँ भी पाँच छटाँक से अधिक नहीं। वहाँ तो ३ छटाँक घी खरीद कर निर्वाह हो जाता है क्योंकि वहाँ रुपया बहुत है, परन्तु यहाँ रुपया इतना नहीं है इसलिये यहाँ घोर आपत्ति आने वाली है। आपने वह गोला अवश्य देखा होगा जो विवाह शादी के अवसर पर चलाया जाता है, उस गोले में बारूद और छोटे-छोटे कंकर भरे जाते हैं, ज्योंही गोले को आग दिखलाई अथवा भूमि पर पटका, गोला फट गया। गोला फटने पर सब से अधिक हानि उस मनुष्य की होती है जो उसके निकट होता है, जिसे नजदीक से तमाशा देखने के स्वार्थ ने दबाया हुआ था। यदि उन्नति के मार्ग पर चलना है तो स्वार्थ को छोड़ दो अन्यथा उन्नति की बातें करना छोड़ दो।

ऋषि दयानन्द स्वार्थ से कितना परे थे इसके लिए

एक दृष्टान्त देता हूँ—

मैं एक बार छपरा में गया, तो देखा कि एक मन्दिर का पुजारी बड़े प्रेम से हवन कर रहा है। मैंने उससे पूछा—महाराज ! यह क्या ? मूर्तिपूजा और हवन ! उसने बतलाया हवन से प्रेम मुझे स्वामी दयानन्द की कृपा से हुआ है। मन्दिर की पूजा तो पेट के कारण है, मेरा सच्चा विश्वास इस पर नहीं है। जब स्वामी दयानन्द शास्त्रार्थ करने जाते थे तो मैं उनकी पुस्तकें उठाकर ले जाता था। इस पुजारी ने मुझे स्वामी जी के जीवन की एक घटना इस प्रकार सुनाई—

छपरा के पास एक छोटी-सी रियासत है। वहाँ के रईस ने अपने पण्डितों से कहा कि वे स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ करें। सोलह पण्डित मिलकर शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हुए। रईस ने सोलह चौकियाँ एक ओर बिछा दीं और उनके सम्मुख दूसरी ओर एक चौकी बिछा दी। जब वे सोलह पण्डित आकर चौकियों पर बैठ गये तो उस रईस महाशय ने अपना सेवक स्वामी जी की ओर भेजा। छै फुट और पाँच इञ्च का जवान जिस समय कमरे के अन्दर प्रविष्ट हुआ तो पण्डित लोग भौचके रह गये। साहस न पड़ा कि स्वामी जी से बात कर सकें, परन्तु कुछ तो कहना ही था; रईस महाशय की ओर मुँह करके

बोले, आपने हमारे लिए लकड़ी की चौकियाँ मँगाई हैं और स्वामी जी के लिये सफ़ेद पत्थर की; आपने हमारा अपमान किया है, हम शास्त्रार्थ नहीं करते। जब उठकर चलने लगे तो स्वामी जी ने कहा कि मैं भी संगमर्मर की चौकी को छोड़ता हूँ, आओ भूमि पर बैठ कर शास्त्रार्थ करें। यह था स्वार्थ-त्याग !

परन्तु यहाँ दशा क्या है, इतने आर्य पुरुष बैठे हैं, सन्ध्या उपासना तो करते होंगे, परन्तु प्रेम से स्वार्थ रहित होकर नहीं। कुर्सी पर बैठे हैं तो वहीं करली, हाथ मुँह धोया है या नहीं, इसकी कुछ परवाह नहीं। अर्थात् सन्ध्या भी करेंगे तो स्वार्थ के साथ, जिससे पाँच सात मिण्ट की हानि न हो, वैसे गप्पें हाँकने में चाहे सारा दिन व्यतीत हो जाय।

एक पुरुष चारपाई पर बैठा माला फेर रहा था। एक मनुष्य उसकी छत पर चढ़कर नाचने लग गया। उसने पुकारा, ऊपर कौन है? उत्तर मिला कि ऊँट नाच रहा है। वह चकित हो गया और पूछा कि चार मंजिले ऊपर ऊँट कैसे चढ़ सकता है? ऊपर वाले ने उत्तर दिया, जैसे चारपाई पर चढ़ कर ईश्वर की उपासना हो सकती है।

किसी मेले में एक वैश्य का लड़का गिर गया, लोगों

ने उसके पिता को आकर बतलाया। उसने कहा वैश्य का लड़का कभी बिना प्रयोजन नहीं गिरता, अवश्य किसी स्वार्थ से गिरा होगा। लोग आश्चर्य में रह गये कि यह मनुष्य अच्छा है, इसका लड़का गिरा और उसको चोट आई, परन्तु यह कहता है कि किसी स्वार्थ से गिरा होगा। कुछ समय के पश्चात् लड़का घर पहुँचा, पिता ने पूछा कि कैसे गिरा था ? लड़के ने उत्तर दिया कि भूमि पर एक सोने की मोहर पड़ी हुई थी, मैं यदि उसे वैसे ही झुककर उठा लेता तो लोग मुझ से छीन लेते। मैं गिरकर चिल्लाने लगा कि मुझे चोट लगी है और इस बहाने से मोहर मुँह में डाल ली; लोगों ने मुझे मिठाई ले दी। होते होते यह बात लोगों तक पहुँच गई कि वैश्य का लड़का बिना स्वार्थ के नहीं गिरता। अब यदि सचमुच भी किसी वैश्य को चोट आए तो कोई उससे सहानुभूति नहीं करता।

उपनिषदों में एक गाथा आई है कि एक बार इन्द्रियों का परस्पर विवाद हो पड़ा और प्रत्येक इन्द्रिय अपने आप को बड़ा समझने लगी। सब बारी बारी शरीर में से निकल गई। परन्तु शरीर जीवित रहा। परन्तु जब प्राण निकले तो शरीर मर गया, क्योंकि प्राणों में स्वार्थ नहीं। वे जो कुछ लेते हैं इन्द्रियों को बांट देते

हैं अपने पास कुछ नहीं रखते । जो लोग प्राणों के समान स्वार्थ का परित्याग करके संसार में रहेंगे, उन्हीं व्यक्तियों और जातियों का कल्याण होगा । संसार में ऐसे भी लोग हैं जो अपना स्वार्थ पूरा करके भी काम बिगाड़ देते हैं । वेद कहते हैं कि ऐसे मनुष्य बहुत अधोगति को प्राप्त होते हैं । किसी ने कहा है—

घटे जब वैर विरोध विकार, बढ़े तब विनय विवेक विचार ।
होवे सुखद समाज सुधार, तभी हो भारत का उद्धार ॥

विरोध के रहते हुए विवेक और सुधार कैसे रह सकते हैं ? संसार में पिता पुत्र, माता पिता और भाई बहन के अतीव निकट सम्बन्ध हैं, परन्तु अवस्था यह है कि न भाई भाई के कहने में है, न पुत्र पिता की आज्ञा में है । फिर उन्नति हो तो कैसे ? अंगरेजी वालों का सिद्धान्त है कि निर्बल संसार में नहीं रह सकते । यह सिद्धान्त पशुओं और जानवरों की अवस्था में तो ठीक है परन्तु मनुष्यों की अवस्था में नहीं । यदि मनुष्यों की अवस्था में भी यही सिद्धान्त काम करे तो फिर मनुष्यों और पशुओं में क्या भेद रह गया ? न्याय यह चाहता है कि बलवान् निर्बलों की रक्षा करें क्योंकि बल दो कमजोरी की अवस्थाओं के मध्य होता है । बालपन की अवस्था कमजोरी की अवस्था है, उसके पश्चात् यौवन

और अन्त में बुढ़ापा फिर कमजोरी की अवस्था है । इसलिए बल और यौवन पर जो अभिमान करे उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है ?

स्वामी जी लिखते हैं, बड़ी हुई शक्तियाँ केवल स्वार्थ-वश होकर गिरती हैं । अभिमान गिरावट की पहली सीढ़ी है । जातियों के इतिहास को पढ़कर देखो किस प्रकार उन्होंने स्वार्थ-रहित ह कर भावी सन्तानों के लिए मैदान साफ किया । अपने इतिहास में रामचन्द्र जी का समय देख लो, कैकेयी ने स्वार्थवश होकर रामचन्द्रजी को सिंहासन से वंचित किया, परन्तु भरत ने इतना स्वार्थ-त्याग किया कि आज जगत् में उसका नाम अमर है ।

एक ओर रामायण में भरत का त्याग है तो वहाँ दूसरी ओर महाभारत में दुर्योधन का स्वार्थ है जिसने देश को इस अधोगति को प्राप्त कराया ।

स्वार्थ-त्याग का एक और उदाहरण

शाहजहाँ की बेटी बीमार हुई । वैद्यों, हकीमों का इलाज किया, आराम न हुआ । किसी ने कहा कि डाक्टर वाटन नामी एक अंग्रेज़ डाक्टर है, उसका इलाज कराएँ । डाक्टर वाटन को बुलाया गया, उसके हाथ से रोग दूर हो गया । बादशाह ने कहा, माँगें आप क्या माँगते हैं ? शाहजहाँ का विचार था कि यह चार पाँच

हज़ार रुपया माँगेगा अथवा कुछ भूमि । परन्तु वाटन के स्वार्थ-त्याग को देखिए कि वह अपने लिए कुछ नहीं माँगता; माँगता है तो यह कि अंग्रेज़ जो यहाँ व्यापार करने आते हैं, उनसे महसूल न लिया जाय और उन्हें प्रत्येक स्थान पर बिना रोक-टोक व्यापार करने की आज्ञा दी जाय । उस समय यह बात साधारण जान पड़ी परन्तु इस थोड़े से स्वार्थत्याग का फल अंग्रेज़ों का राज्य हो गया । भारत चाहे निकम्मा होगया है परन्तु अब भी जैसी उपज और जैसा अन्न-जल इस देश का है, किसी दूसरे देश का नहीं । स्वयं भूखा रहकर संसार को तृप्त करना भारत का ही काम है, इसलिए जहाँ स्वयं स्वार्थ का त्याग करो, आने वाली सन्तति को भी यही पाठ पढ़ाओ ।

तप क्यों करें ?

संसार में कोई भी काम ऐसा नहीं है जिसके करने का साधन तप सिद्ध न हुआ हो । मनुष्य के जीवन में तप ही सार है, इसके बिना मनुष्य का सम्पूर्ण पुरुषार्थ व्यर्थ है । तप ही निर्बलों को बलवान् बनाता है और पतितों को फिर से प्रतिष्ठा के मार्ग पर चलाता है । तप ही की सहायता से महात्मा लोग दुखित लोगों को सङ्कट से बचाते हैं, यही कारण है कि उनके नाम सूर्य की न्याईं संसार में जगमगाते हैं । जिसके प्रभाव से महात्मा बुद्ध के आगे संसार ने शीश झुकाया, जिसकी शक्ति से शङ्कराचार्य ने वेद-विरुद्ध नास्तिक मत को दबाया, जिससे ऋषि दयानन्द जी महागज ने वेदों का सत्य मार्ग संसार को दिखाया, वह तप ही तो है ।

कहाँ तक कहें जितने महात्मा, महानुभाव वा भद्र पुरुष संसार में हुए हैं, और होंगे, जिनका उद्देश्य कष्ट उठाकर भी जनता को हित और अहित का मार्ग दिखाना होता है, वे सब तपस्वी ही होते हैं ।

परन्तु यह बात इसमें आवश्यक है कि सुधारक के जीवन में जितना अंश तप का अधिक होता है उसका किया हुआ कार्य उतना ही फलता-फूलता जाता है ।

सृष्टि की उत्पत्ति भी ईश्वर के तपोबल के अधीन है जो उसकी सत्ता में विद्यमान है । इस विषय में उपनिषदों की साक्षी है । नक्षत्र-मण्डल की रचना जिस तपोबल के अधीन है उसकी महिमा को सर्वसाधारण नहीं जान सकते, कोई योगी ही जान सकता है । आओ, तनिक विचार करें । हमारी दृष्टि में हिमालय पर्वत सबसे बड़ा प्रतीत होता है, परन्तु कुछ ज्ञान-दृष्टि के बढ़ने से यह भूगोल जिस पर हम बसते हैं हिमालय से कहीं बड़ा दीखता है । अब भूमण्डल महान् प्रतीत होने लगा है । परन्तु आगे चलकर जब सूर्य-मण्डल पर ज्ञान-दृष्टि का अधिकार हुआ, जो भूगोल से तेरह लाख गुना के लगभग है, भूमि की वही स्थिति हो गई जो भूमि के आगे हिमालय की थी । अब जब विचार का एक पग और आगे बढ़ा, तो अनन्त भूगोल, सूर्य और कोटानुकोटि तारागण इस बृहद् आकाश के गर्भ में लटकते और घूमते हुए अपने स्वामी के भय से मर्यादा का पालन करते और उसके गुण गाते हुए उस जगदीश्वर की सत्ता, महिमा और विभूति का स्मरण दिला रहे हैं ।

जब उसकी उपासना और भक्तिसे योगी का अन्तः-करण विशाल हो जाता है तो यह आकाश जिसमें कोटानुकोटि तारागण लटकते हुए दीख पड़ते हैं एक सूई के छिद्र के बराबर दिखाई देने लगता है। यह योगी का परम स्थान है, मनुष्य की उच्चतम डिगरी है, परन्तु यह उसी को प्राप्त हो सकती है जो तपोबल को धारण करता है। तप के प्रभाव से जब मल और विक्षेप का अभाव हो जाता है तो आत्माका निज का बल जो दुष्ट संस्कारों से दबा हुआ था, निर्मल हो कर सत्कर्मों के अनुष्ठान, सत्सङ्ग और अनुभव से शनैः शनैः विस्तार पकड़ने लगता है। इस प्रकार तपस्वी का अन्तःकरण सद्गुणों का केन्द्र हो जाता है।

मनुष्य का आकार तो एक-सा है परन्तु मनुष्य का आचार अच्छा बनाने के लिये मनुष्य को तप की बड़ी आवश्यकता है। जहाँ तप है वहाँ ओज, वर्चस और तेज विद्यमान हैं; ऐसी सामग्री को पाकर मनुष्य अपने आपको परोपकार करने के लिये सहानुभूति के मार्ग पर खड़ा कर देता है।

परन्तु पूर्व-जन्म-कृत सत्कर्मों की सहायता और ईश्वर की कृपा के बिना ऐसी शक्ति का प्रगट होना सम्भव नहीं। जब ईश्वर की कृपा और पूर्व-जन्म-कृत

सत्कर्म मनुष्य के सहायक होते हैं तब ही ऐसी शक्ति प्रगट होती है ।

जिस प्रकार बरसने के समय बादल पृथ्वी की ओर उसकी तप्त बुझाने और फल-फूल उगाने के लिये झुक-झुक कर बरसते हैं, इसी प्रकार अविद्या से प्रमाद और आलस्य में फँस कर उस जगदीश्वर को भूले हुए लोगों को फिर से परमपिता परमात्मा की उपासना की विधि सिखाने और उल्टे मार्ग से हटाने में तपस्वी का आत्मा पूर्णतया झुक जाता है ।

इसलिये तपस्वी वह है जो पहले सद्गुणों को प्राप्त करता है और पश्चात् आयु के दूसरे भाग में जगत् को उन्हीं गुणों से युक्त बनाने में यत्न करता है और कीर्ति को प्राप्त करता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार ही मनुष्य को गिराने वाले गुप्त शत्रु हैं । जो मनुष्य इन को अपने अनुकूल बना लेता है वह तपस्वी है और जो उनके अनुकूल हो जाता है वह तप-हीन बुद्धि-मलीन हो जाता है । तपस्वी ऋषि दयानन्दजी महाराज के पवित्र चरित्र की विचित्रता पर ध्यान दें । कामना यदि थी तो सब के हित की, स्वार्थ नाममात्र को भी न था ।

शारीरिक बल रखने पर भी गाली का उत्तर गाली, ईंट-पत्थर का उत्तर ईंट-पत्थर से न देकर बारम्बार

लोगों के हित की चिन्ता करना क्रोध से रहित होने का प्रमाण है। लाखों की आमदनी के स्थान मिलने पर सच्चाई के आगे उनको तुच्छ समझना, उनके लोभ-रहित होने का परम प्रमाण है। परमेश्वर का स्मरण और उसकी प्राप्ति के लिये सुखसम्पन्न घर को छोड़ देना वीतराग होने का पूरा प्रमाण है। अहंकार न होना इस बात से स्पष्ट है कि अनाथों की रक्षा, पतितों का उत्थान, निरभिमान पुरुषों के बिना कौन कर सकता है ? ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी अनुचित अभिमान में फँसी हुई ब्राह्मण जाति का पक्षपात न करना, गुण कर्मों की प्रधानता से सब से उच्चपद पाने का अधिकारी मानना अहंकार के न होने के प्रमाण हैं। ऐसे महात्मा ही संसार के सुधारक हो सकते हैं। सज्जनो ! आप उनका जीवन-चरित्र पढ़ो, और उसके अनुकूल कार्य करो, यही मार्ग तुम्हारे आत्मा को उच्च बना सकेगा।

दसवां प्रवचन

मन कैसे वश में हो ?

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्र -
तन्न आसुव । यजु० अ० ३० । ३ ।

इस मंत्र में कहा है कि हे ईश्वर, न्यायकारी, दयालु ! सारे दुर्गुण हम से दूर रहें और सत्य-मार्ग हमको प्राप्त हो ! पहला पद निषेध, दूसरा विधि का है । इससे प्रगट होता है कि जीव की मुक्ति तथा प्रवृत्ति के दो मार्ग हैं । एक सत्य, दूसरा असत्य । मनुष्य जितना सत्य-मार्ग में प्रवृत्त होता है उतना ही असत्य-मार्ग से दूर रहता है ।

एक कवि का वचन है—हे संसारी मनुष्यो, यदि तुम बुरे काम करते हुए यह चाहते हो कि इसका फल दुःख न हो, यह हो नहीं सकता । तुम चाहे पर्वत की कन्दरा में छिप रहो, समुद्र के निकट जा रहो, वन में भाग जाओ परन्तु उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा, इससे कभी भी नहीं बच सकते । यदि तुम ऐसा सोचते हो कि देखो संसार में अमुक मनुष्य बुरे ही बुरे काम करता है

परन्तु सुखी है; धन भी है, स्त्री-पुत्र आदि सब ऐश्वर्य हैं, तो यह भूल है। यह फल तो उसके पूर्व शुभ कर्मों का है। जिस समय वह पूर्व जन्म के मिले हुए शुभ कर्मों का फल पा चुकेगा तो इन सब बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगेगा।

देखो, एक पुरुष को सर्प काटता है, वह तो तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, परन्तु दूसरे को पागल कुत्ता काटता है और सम्भव है कि एक-दो वर्ष में वह कुत्ते की न्याईं भौंकने लगे और मर जावे। इसी प्रकार कर्मों का फल तभी मिलता है जब उसकी सामग्री एकत्र हो जाती है। नवयुवक, वृद्ध, बालक, माता-पिता सब ही जानते हैं कि बुरे कामों का फल बुरा होता है, परन्तु फिर इन में क्यों प्रवृत्त होते हैं ? और शुभ कर्मों के करने में प्रवृत्त नहीं होते।

एक वेद-मंत्र में बतलाया है कि ईश्वर ! मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो, अशुभ वासनाओं से दूर रहे। इस से प्रगट हुआ कि यह मन द्वार का दीपक है जिस से बाहर और भीतर प्रकाश होता है। इसी प्रकार जीव और प्रकृति के मध्य में यह मन-रूपी दीपक प्रकाशित है। मन की शक्ति क्या है ? यह चार प्रकार की है। एक तो 'मन' जिससे संकल्प-विकल्प हों। दूसरे 'बुद्धि' जिस

से मनुष्य विचार करता है। तीसरे 'अहंकार' जिससे अभिमान होता है। चौथे 'चित्त' जिससे पूर्व का चिन्तन हो।

मन से ही मनुष्य मोक्षपद को प्राप्त होता है।

दिल बदस्त आबुर्द हज्जे अकबर अस्त।

अज्र हज्जारां कअवा यक दिल बेहतर अस्त ॥

अर्थ—सब से महान् दिल है उसको काबू में ला। यदि तुम एक मन को वश में कर लो तो हजार कअवा से बढ़कर है। जिसके वश में मन है, वह कामी, लोभी, मोही नहीं। कारण यह है कि मन की अनुपस्थिति में इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकतीं। बहुधा लोग कह देते हैं, भाई मेरा मन दूसरी ओर था, मैंने आपकी बात नहीं सुनी। अतः वेद ने यह प्रार्थना करने की आज्ञा दी है कि मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

यह मन सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के चक्र में पड़ा हुआ है, इसको इन चक्रों से पृथक् करो। आप कहेंगे यह कैसे जाना जावे, कि हमारे ऊपर रजोगुण अथवा तमोगुण का प्रभाव है। जिस समय यह विचार उत्पन्न हो कि ४) अमुक धर्म के कार्य में देने हैं दूसरा कार्य भी रोक कर दे दें, उस समय समझो कि सतोगुण का प्रभाव है। और जब यह विचार हो कि चलो किसी

का धन हर लावें और सुख से खावें, समझो कि उस समय मन पर तमोगुण का प्रभाव है। जब ऐश्वर्य की चिन्ता हो समझो कि रजोगुण का राज्य है। महाराज भर्तृहरि जी कहते हैं कि सात्विकी बुद्धि वाले तो यह कहते हैं कि मेरा सुख तो इसी में है कि दूसरों को अथवा संसार को सुख मिले और मुझे दुःख इसी में है जिससे सारे संसार को दुःख हो। रजोगुणी कहते हैं कि हम आनन्द में रहें, दूसरों को न हम से दुःख हो न सुख हो। तीसरे तमोगुणी कहते हैं मुझ को सुख हो, चाहे दूसरों को दुःख ही क्यों न हो। यह तीन प्रकार के मनुष्य भर्तृहरि जी ने बताये हैं। परन्तु एक पुरुष कहता है कि इनके अतिरिक्त एक चौथा वह है जो दूसरों को दुःख देने और बिगाड़ने के लिये अपना कार्य भी बिगाड़ दे। सज्जनो ! जब तक आप सतोवृत्ति को न बढ़ायेंगे, उन्नति नहीं हो सकती। जब आप अपने कार्यों अथवा व्यवहारों का लेखा करते हैं, अपने उच्च कर्मचारी से भय करते हैं, बालक को लाड़-प्यार करते हैं, अपने शरीर के बनाव-शृङ्गार तथा सौन्दर्य में समय देते हैं, कोट आदि पहनने में घण्टों लगाते हैं, तो क्या आप अपने मन को पवित्र करने में थोड़ा-सा समय देकर प्रयत्न नहीं कर सकते ? भाई ! जितने समय में शरीर का शृङ्गार करते हो उसके

आधे ही समय में मन शुद्ध बनाया जा सकता है । जितने धर्म हैं उनका कारण मन है । यदि आप मन से दुष्टभाव और विरोध का काम लेंगे तो दुःख आप के पीछे इस प्रकार चलेगा जैसे चक्र बैल के पीछे । जब आप जानते हैं कि मननशील होना ही मनुष्य कहलाता है, तो फिर धिक्कार है कि अपना मन शुद्ध नहीं करते । कोई किसी का शत्रु नहीं; मन ही शत्रु बनता है । जब मेरे मन में विश्वास नहीं तो दूसरे को मैं कैसे विश्वास करा सकता हूँ । इसलिये मन में सतोगुण का प्रादुर्भाव करने की आवश्यकता है । ऋषि कहते हैं कि वेद के विषय सामान्य हैं परन्तु वह आपके समझने ही से समझ में आ सकते हैं । वह दूसरों के दिखाने योग्य नहीं हैं । जैसे जो निर्बल हैं वह अपने धन की रक्षा नहीं कर सकता परन्तु बलवान् कर सकता है, इसी प्रकार जब आजकल हमारे मस्तिष्क में विद्या के लिये आलस्य है, तो किस प्रकार विद्या तथा वेद ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है ? आत्मा अवश्य उन्नति कर सकता है परन्तु पहले उस पर का आवरण हटा दो । तुम कहोगे हम में सतोगुण नहीं है । एक कपड़ा दर्जी के पास ले जावो और उसे कहो कि इसका कुछ बना दो । वह पूछता है क्या बना दूँ ? कमीज़ बनाऊँ, अथवा कोट या पाजामा । तुम कहोगे

भाई मैं कोट के लिये लाया हूँ । तुम कैसे कमीज़ अथवा पाजामा बना दोगे ? बात यह है कि जैसे उसकी विद्या की कतरनी (कैंची) वस्त्र पर चलेगी वैसे ही कमीज़, पाजामा आदि वस्तुएँ बन जावेंगी । इसी प्रकार मनुष्य का मन है । पुत्र ऐसा भी बनाया जा सकता है कि बकरी से डर भागे और ऐसा भी बन सकता है कि सिंह को मारे । शोक है कि तुम स्वयं प्रयत्न नहीं करते और कहते हो कि पश्चिमी विद्वानों ने कैसे अद्भुत आविष्कार किये । यदि हम को ऋषि दयानन्द वेदों का संदेश न सुनाते तो हम क्या जान सकते थे, गूँगे थे जो बात का उत्तर भी न दे सकते थे । आज उस विद्या की कतरनी चलने से हम में वाक्-शक्ति आ गई है । जिस प्रकार हमारी ऐनक हरी है तो सब पदार्थ हरे रंग के हैं, यदि लाल रंग की हो तो सब पदार्थ लाल दिखाई पड़ते हैं । बात यह है कि लाल, पीले रंग दृष्टि पर आवरण का काम देते हैं, यथार्थ रंग नहीं दिखाई पड़ता । परन्तु श्वेत वर्ण में आवरण नहीं होता, यथार्थ रूप दिखाई पड़ जाता है । इसी प्रकार जीव के ज्ञान के आगे तम, रज का आवरण पड़ा है; उसको दूर करो, यथार्थ तत्त्व प्रगट हो जावेगा ।

मनुष्य का मन बन्दर की दृष्टि के समान है । आप

भोजन बनाते खाते हैं; बानर आया, आपने यदि उससे दो तीन बार दृष्टि मिलाई वह भाग गया; अन्यथा रोटी लेकर चम्पत हो गया। पर-स्त्री का दर्शन करके मन मलीन हुआ, आपने तत्काल इस व्यभिचार पर दृष्टि दे कर इसको दूर कर दिया। इसी प्रकार विचार करने से स्वभाव पड़ जाता है और मन आपके अधीन हो जावेगा। समस्त शक्तियाँ आत्मा की हैं और मन से उनका प्रादुर्भाव होता है। इन्द्रियाँ मन से सम्बन्ध रखती हैं तब सारे कार्य होते हैं। जब मन इन्द्रियों के अधीन हुआ तो मानो रईस साईस और साईस रईस बन गया, राजा रंक हो गया। वनमालीदत्त से हमने मथुरा में सुना कि एक समय ऋषि दयानन्द यमुना के तट पर समाधि लगाये ईश्वर-स्मरण में मग्न थे। एक माता आई और साधु जानकर उनके चरणों में शिर निवा दिया। ऋषि क आंख खुलते ही लज्ज पर दृष्टि पड़ी। आप उठे और यह कहकर कि तुम यहाँ से चली जाओ, आप गोकुल के पर्वत पर एक मन्दिर में समाधि लगा भूखे-प्यासे तीन दिन पड़े रहे। गुरु ने खोज कराई। पता लगा कि मन के इस पाप से मुक्ताबिला के लिये उन्होंने स्वाध्याय का त्याग करके दुःख सहन किया ताकि फिर मन में कदापि ऐसा भाव उत्पन्न न हो। जब दीवाली आती है आप

अपने गृहों को स्वच्छ करते हो, दीप जलाते हो परन्तु कभी इस शरीर-गृह के वासी को भी स्वच्छ पवित्र किया ? हाय, मकान की यह प्रतिष्ठा और उसके वासी की यह दुर्दशा ! ऐसी दशा में उन्नति क्या हो सकती है ? मित्रो, जब तक हम स्वयं न भले बनेंगे दूसरों को भला नहीं बना सकते । सारा प्रयत्न व्यर्थ होगा । देखो जब बैल थक जाता है तो रम्सी आगे पकड़ कर खींचने से नहीं चलता, पीछे से डण्डा मारो, चलने लगेगा । परन्तु पशु और मनुष्य में भेद है । जो मनुष्य थका है पीछे से मारने से नहीं चलेगा परन्तु आगे से खींचने से चलेगा । हिन्दु-जाति थकी है अब तुम स्वयं आगे चलाते जाओ और आगे खींचते जाओ । आखें खोलो । विपत्ति से अधीर मत हो । अधीर होने से कष्ट बढ़ता है । जो इसका मुकाबिला करते हैं उनका कष्ट आधा रह जाता है । धैर्य द्वारा बल-वर्धन करो और प्रार्थना करो कि “तेजोऽसि तेजो मयिधेहि”—हे ईश्वर, आप तेजस्वरूप हैं हम को तेज दें, बलस्वरूप हैं हमको बल दें । जब ईश्वर पर विश्वास करके मन को पवित्र करने का प्रयत्न करोगे, तभी तेजवान् और सामर्थ्यवान् बनकर जीवन सफल करोगे ।

धर्म पर आरुढ़ रहो

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि
परासुव । यद्भद्रन्तन्न आसुव ।

इस वेद-मंत्र में प्रार्थना की गई है कि परमात्मन् ! आप हमें दुर्गुणों से पृथक् करके शुभ गुणों में लगाइये । परन्तु केवल प्रार्थना करने से हम बुरे कामों से नहीं हट सकते जब तक कोई साधन न होगा । दूर क्यों जाते हो, अपने शरीर से ही इसका उदाहरण ले लो । हमारे मुख में तीन प्रकार के दाँत हैं । एक काटने के, दूसरे कुतरने के और तीसरे चबाने के । यदि इन तीनों में से एक प्रकार के न हों तो भोजन अच्छी प्रकार पच नहीं सकता । प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के लिये साधनों की आवश्यकता है । दुःख और सुख दोनों मनुष्य के अन्तरात्मा में विद्यमान हैं । शास्त्रों ने बतलाया है जहाँ प्रेम है वहाँ सुख है, प्रेम श्रद्धा और विश्वास में है, विश्वास सत्य में है, सत्य विद्या से ग्रहण किया जाता है, विद्या बिना तप के प्राप्त नहीं हो सकती और तप बिना ब्रह्मचर्य के

नहीं होता । यदि आप इन छः दर्जों को पार कर जाएँ तो सुख पा सकेंगे ।

संसार सत्य पर स्थिर है ।

श्रद्धा सत्य के आश्रय पर खड़ी है । जिस श्रद्धा में सत्य नहीं वह फलदायक नहीं हो सकती, और न ही वह सत्य लाभकारी हो सकता है जिसमें श्रद्धा न हो । पौराणिकों में श्रद्धा बहुत है परन्तु सत्य नहीं, प्रत्युत् आर्य-समाजियों में सत्य है किन्तु श्रद्धा नहीं । परिणाम यह है कि दोनों को सुख नहीं । नकल करने वाले भांडों का कोई विश्वास नहीं करता; यदि उसको वास्तव में पेट में पीड़ा होती हो तो लोग यही समझते हैं कि हँसी कर रहा है । हमारे सारे कार्य असत्य पर ही चल रहे हैं जिसका परिणाम यह है कि परस्पर विश्वास नहीं रहा । यदि कोई दुकान वाला ठीक दाम भी बतलाता है तो विश्वास नहीं आता । परन्तु टिकट मोल लेते समय कोई अविश्वास नहीं करता क्योंकि वहाँ सत्य का विश्वास है । सत्य की परीक्षा विद्या से की गई है । जहाँ अविद्या है, वहाँ अन्धकार है । अन्धकार बिना प्रकाश के दूर न होगा ।

प्राकृत अन्धकार को दूर करने के लिये प्राकृत प्रकाश की आवश्यकता है और आत्मिक अन्धकार के नाश के

लिये विद्या की आवश्यकता है। जो जाति विद्या से विमुख हो जाती है उसकी जितनी भी दुर्दशा हो थोड़ी है। जाति में से सुख का अनुभव उड़ जाता है। काशी के विद्वान् धर्म की दुर्दशा देखकर चुप बैठे रहे परन्तु स्वामी दयानन्द का दिल फड़क उठा। वह उस अत्याचार को, जो धर्म के नाम पर हो रहा था, सहन न कर सका। सत्य विद्या का पति है। उसकी दो संतान हैं, एक पुरुषार्थ दूसरा विज्ञान। ऋषि दयानन्द के भीतर जहाँ विद्या थी वहाँ सत्य धर्म भी था। उन्होंने विज्ञान से अनुसंधान किया और पुरुषार्थ से उसको समस्त संसार में फैला दिया। विद्या पंडितों के पास थी परन्तु पुरुषार्थ के बिना निरर्थक हो रही थी। यदि आप भी विद्या को बलवती बनाना चाहते हो तो उसके साथ सदाचार का अवलम्बन करो। वह विद्वान् किसी काम का नहीं जो दुराचार में लिप्त हुआ है। विद्या दूसरों को प्रकाशमान कर सकती है। बुझा हुआ लैंप कभी किसी को प्रकाश नहीं दे सकता। गाड़ियाँ इंजन के साथ ही चल सकती हैं, इंजन से पृथक् होकर नहीं। ऋषि दयानन्द के उपदेशों से लाभ उपलब्ध करके हम कुछ काम करने के योग्य हो गये हैं। ऋषि से बढ़कर काम करना तो कहाँ? हम सब ने मिलकर इस समय तक इतना काम नहीं किया

जितना अकेला ऋषि कर गया है। इसका कारण स्पष्ट है कि हम में इतना उच्च सदाचार और तप नहीं जितना कि ऋषियों में था। देखा जाता है कि यदि मूर्ख पुरुष पाप करे तो इतनी हानि नहीं होती जितना कि एक पठित पुरुष के पाप से होती है। इसीलिये शास्त्र ने विद्या के साथ सदाचार की शर्त लगा दी है। हमारे पूर्वजों ने धन को हाथ की मैल कहा है। यद्यपि स्वास्थ्य को धन की कुछ परवाह नहीं परन्तु स्वास्थ्य से भी अधिक सदाचार का ध्यान रखना चाहिये। परन्तु आज शोक से देखा जाता है कि सदाचार की अपेक्षा धन का अधिक मान है। जब तक आप सदाचार की अपेक्षा धन को निकृष्ट न समझेंगे आपका कुछ न बनेगा। यही सीधी लाइन है जिस पर चलकर आप सुख पा सकते हैं।

आचार की रक्षा किस प्रकार हो ?

अब प्रश्न यह है कि सदाचार आवे कैसे ? आचार अधिकतर युवावस्था में भ्रष्ट होता है। जिस प्रकार हलवाई का दूध साधारणतया पहिले ही उबाल में कढ़ाई से बाहर होता है, इसी प्रकार वीर्य का नाश भी बालकपन में होता है। जिस हलवाई ने पहिले उबाल में दूध को गिरने से बचा लिया वह फिर अन्त तक हानि-

रहित हो जाता है। इसी प्रकार जो माता-पिता २५ वर्ष तक अपने पुत्रों के ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हैं, उनके पुत्र आयु-पर्यन्त सदाचारी रहते हैं। यही ऋषि ने तुम्हारे सामने अपने जीवन का आदर्श रख दिया है। अब यदि व्यर्थ बातों को नहीं छोड़ोगे तो मर जाओगे। तुम ने आर्यसमाज में आकर संसार के उद्धार का बीड़ा उठाया है इसलिये तुम जिन विचारों को संसार में फैलाना चाहते हो पहले स्वयम् उनका पालन करो।

जीवन-यात्रा

सफलता और असफलता में भेद—यदि आप गूढ़ दृष्टि से देखेंगे तो संसार में बिना सफलता के मनुष्यों के लिये दुःख होता है और जो सफलता प्राप्त कर लेते हैं उनको सुख होता है। सफलता को सामर्थ्य और असफलता को असमर्थ भी कहते हैं। यदि इस बात को जान लिया कि दुःख क्या है और उस बात का त्याग कर दिया तो सफलता को प्राप्त हो गये। यदि जान कर भी न छोड़ा तो असमर्थ रह कर परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। दुःख के कारण को पहले समझना और फिर उसका परित्याग करना भी सफलता ही है। जिस समय कोई पुरुष अपनी असफलता को अनुभव कर रुदन करता है वही उसके लिये सफलता की पहली सीढ़ी है। इस पर मैं दो उदाहरण देता हूँ। एक धनवान् ने दो मल्लों (पहलवानों) के लिये ५०० का पारितोषिक नियत किया कि जो जीतेगा वही इसको ग्रहण करेगा। अब दोनों पहलवान् मुकाबिला की

तैयारी करते हैं। दोनों की यही इच्छा होती है कि एक दूसरे को गिरा ले। परन्तु जीतना एक ने ही है। लोगों के सम्मुख उनकी कुशती होती है। दर्शकों के देखते २ एक पहलवान् दूसरे को गिरा लेता है। उसके मुख की ओर देखो और जो गिरा है उसकी ओर भी ध्यान से देखो। सफल के मुख पर अखाड़े की मिट्टी बहुत अच्छी लगती है, उसकी छवि प्रसन्नता से दुगुनी हो रही है। मुख की कांति प्रसन्नता-पूर्ण दीख पड़ती है। परन्तु जो गिरा है उस के दुःख तथा खेद का कोई ठिकाना नहीं, असफलता ने उसको इतना शोकमय बना दिया है कि उससे अब उठा भी नहीं जाता। यद्यपि यह कोई बड़ी बात न थी, वह दूसरी बार जीत भी सकता है। यह एक शारीरिक सफलता का उदाहरण है। दूसरा उदाहरण विद्या की सफलता को ले लें। विद्यार्थी परीक्षा देते हैं, एक उत्तीर्ण दूसरा अनुत्तीर्ण हो जाता है। अब एक का मुख सफलता के कारण प्रफुल्लित और सुन्दर दृष्टिगोचर हो रहा है और उससे जो भी मिलता है अपनी सफलता का वर्णन करता है, परन्तु दूसरा बहुत उदास है और वह किसी को बताता भी नहीं कि पास नहीं हुआ। क्यों ? इसलिये कि यह अपने इरादे में चूक गया है।

संसार के अन्दर सफलता एक बड़ा मूल्यवान् पदार्थ है। यदि संसार को एक अखाड़ा मान लें तो हम इस अखाड़े के पहलवान हैं। हमें इसमें सफलता प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। जिस प्रकार अखाड़े के पहलवान और महाविद्यालय के विद्यार्थी का कोई विशेष लक्ष्य है, इसी प्रकार संसार में हम सब का कोई विशेष उद्देश्य है जिसके लिए हमें मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। परन्तु शोक कि हम यथार्थ उद्देश्य को नहीं समझते। हमारी दशा तो ठीक उस पुरुष के समान है जो बड़ी तेजी से भागा जा रहा हो, लोग उसे पूछते हैं कि कहां जा रहे हो ? वह उत्तर देता है कि मुझे कुछ पता नहीं। आप लोग भी इस पुरुष पर हँसेंगे। परन्तु आप अपनी दशा पर विचार करें कि आपकी क्या गति है ?

शास्त्र बतलाते हैं कि इरादा जब तक क्रिया के साथ न हो उसका फल नहीं हो सकता। शारीरिक शास्त्रों में लिखा है कि भोजन खाओ धीरे २ परन्तु उसका स्वाद अच्छी प्रकार लो। परन्तु बाबू लोगों को स्वाद कहां ? साढ़े नौ बज चुके हैं, कचहरी का समय हो चुका है, जल्दी २ ग्रास अन्दर फेंकते जाते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि भोजन का पूरा लाभ नहीं हो सकता।

तो मैंने आपको बतलाया कि प्रत्येक क्रिया के सम्मुख उसका लक्ष्य होना चाहिए। प्रश्न स्पष्ट है—

जीवन का उद्देश्य क्या है ?

हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है ? हम किस प्रकार उसमें सफल हो सकते हैं ? सफलता और असफलता प्रत्येक सांसारिक कार्यों के समान यहाँ भी विद्यमान है। मृत्यु का भय हर समय लगा रहता है। न्याय शास्त्र ने एक उदाहरण दिया है कि बिल्ली को देखकर कबूतर की आंखें बन्द कर लेने से बिल्ली का भय दूर नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार जीवन के उद्देश्य से अनभिज्ञ रहने से मृत्यु टल नहीं सकती। निश्चय रूप से यह जानते हुए कि आपने एक दिन नहीं रहना, आप उद्देश्य से असावधान हैं, नहीं साचते कि हम मृत्यु के डर से किस प्रकार बच सकते हैं ? क्या मृत्यु से बचने का उपाय डाक्टरों वैद्यों के पास है ? यदि डाक्टरों अथवा वैद्यों के पास मृत्यु की औषधि होती तो बड़े-बड़े राजा-महाराजा न मरते। तो क्या फिर मृत्यु का कोई उपाय नहीं ? उपाय अवश्य है। महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है—

एक माता का पुत्र मर गया। उसको महात्मा बुद्ध का पता मिला। वह अपने पुत्र के मृतक शरीर को लेकर

महात्मा बुद्ध के पास आई और कहा इसे जीवित कर दो । महात्मा ने उत्तर दिया कि मैं इसे जीवन प्रदान कर दूँगा यदि आप थोड़ी-सी मिट्टी उस घर से ले आवें जिसका कोई न मरा हो । वह स्त्री सारे नगर में फिरी परन्तु उसे कोई घर ऐसा न मिला जिसका कोई न मरा हो । इस पर उसे शान्ति आ गई कि प्रत्येक के सिर पर काल का शस्त्र लटक रहा है अतः कोई मनुष्य मृत्यु से नहीं बच सकता । निर्बल को बलवान् तो बचा सकता है परन्तु बलहीन नहीं । परमात्मा सब से बलवान् है, मृत्यु पर भी उसका पूर्ण अधिकार है इसलिये उस की शरण में जाने से हम मृत्यु से बच सकते हैं ।

जो परमात्मा की सत्ता को नहीं समझते उनको मृत्यु नहीं छोड़ती । जब तक हमने मृत्यु की व्यवस्था नहीं समझी, हम मृत्यु के भय से रोते हैं; परन्तु जब हमने जीवन-मरण की समस्या को समझ लिया, सारे भय दूर हो जाते हैं । जिस परमात्मा के शासन में जल, पृथ्वी, आकाश अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते, उसकी शरण में जाने और उससे लौ लगाने से मृत्यु दुखदायी नहीं रहती ।

उपनिषदों में एक दृष्टान्त आया है कि एक राजा को रात्रि में स्वप्न आया कि वह एक शृगाल के भय से

मैदान में भाग रहा था। दौड़ते-दौड़ते उसको एक वृक्ष मिल गया, वह उस पर चढ़ गया और उसे शान्ति आ गई। परन्तु नीचे दृष्टि की तो क्या देखता है कि सर्प मुँह खोले बैठा है। दूसरी ओर काले और श्वेत दो चूहे वृक्ष की जड़ को खोखला कर रहे हैं। वृक्ष के ऊपर मधु का छत्ता है। ऊपर देख रहा था कि मधु की एक बूँद उसके मुँह में पड़ गई, सारे दुःख भूल गया। मधु का स्वाद ले ही रहा था कि इतने में उसकी आँख खुल गई। अब वह सोचता है कि यह क्या स्वप्न है? उपनिषद्कार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि यह मैदान, जिसमें राजा भाग रहा था, यह संसार है। वह शृगाल जिसके भय से भाग रहा था “मृत्यु” है। वृक्ष मनुष्य की आयु है। सर्प मृत्यु की चिन्ता है। काले और श्वेत चूहे रात-दिन हैं जो मनुष्य की आयु को काट रहे हैं। जो दिन व्यतीत होता है वह आयु को न्यून करता है। मक्खियाँ शरीर के रोग हैं। इतने कष्ट होते हुए भी मनुष्य इनको भूल जाता है, किसलिये? मधु की बिन्दुरूप इन्द्रियों के विषय से।

भर्तृहरि जी ने कहा है कि दिन और रात्रि के चक्कर में आयु व्यतीत हो रही है। सामने देख रहा है कि अमुक वृद्ध हो रहा है, अमुक का पुत्र मर गया, परन्तु

इन दशाओं को देखकर भी भयभीत नहीं होता, इसका कारण केवल यह है कि मनुष्य संसार के चक्र में आया हुआ है। जिस प्रकार एक मदिरा पीने वाला मान-अपमान का तनिक भी विचार नहीं करता, इसी प्रकार संसार के मोहरूपी मद्य के नशे में मनुष्य मृत्यु की पर्वाह नहीं करता।

छान्दोग्य उपनिषद् में आया है कि आत्मा जन्म और मरण के बन्धन से परे है। जन्म और मृत्यु तो शरीर का है। इसलिये कहा है कि शरीर के आरोग्य होते हुए ही उसका स्मरण करो ताकि अन्त अच्छा हो और अन्त समय में उसका स्मरण हो। जो लोग आयु-भर सांसारिक व्यवहारों में लिप्त रहते हैं उनको अन्त में भी वही स्मरण आते हैं इसलिये उनका अन्त समय बहुत बुरी तरह व्यतीत होता है। महात्मा कृष्णचन्द्र ने कहा है कि प्रभु का स्मरण अन्त समय अवश्य होना चाहिये। एक युवक जो कालिज में पढ़ता है, डाक्टर उसकी दाढ़ निकालने लगे और उस समय उसको कहे कि अब कालिज की ओर ध्यान कर, पर पोड़ा से क्लेषित विद्यार्थी को कालिज का स्मरण नहीं हो सकता। ऋषि दयानन्द जिसके सारे शरीर पर छाले पड़ चुके हैं, प्राणान्त होने में १० मिनट की देर है, उस समय भी उनके मुख से

“ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो !” यही निकलता है ।

यह है अभ्यास की शक्ति । इसी प्रकार यदि प्रभु का अभ्यास करोगे तो मृत्यु के समय वही स्मरण होगा और उस समय मृत्यु का भय न रहेगा । आप चील को प्रतिदिन देखते हैं कि जब उड़ती है तो उसके पंख नहीं हिलते क्योंकि उसको अभ्यास हो चुका है । मुरगाबी जल में रहती है परन्तु जल उसके उड़ने में बाधक नहीं होता, परन्तु एक काग यदि जल में डुबकी लगाये तो उसके लिये उड़ना कठिन हो जाता है । इसी तरह जैसा आयु-पर्यन्त आपने अभ्यास किया है वैसा ही चित्र मृत्यु के समय आपके सामने प्रस्तुत हो जावेगा । यदि आपने फोटो खिंचवाने के समय आँखें बन्द कर ली हैं तो चित्र में भी आँखें बन्द रहेंगी । जैसे कर्म किये हैं वैसा ही चित्र अन्त समय खिंच जावेगा । उस समय न किसी वकील की आवश्यकता होगी, न बैरिस्टर की । अपराधी खयमेव स्वीकार कर लेता है कि वस्तुतः मैंने अमुक खोटे कार्य किये थे । मैंने बहुतेरे लोगों से उन खोटे कर्मों को छुपाया परन्तु शोक कि आज वह सब प्रकट हो गये और जिनके लिये मैंने यह पाप किये थे वे भी आज मेरा साथ नहीं देते । इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि माता, पिता, स्त्री, पुत्र सब की सहायता करो, परन्तु धर्म के अनुसार ।

किसी के लिये अधर्म न करो । यदि अधर्म के साथ उन की सहायता करोगे तो तुम्हें कष्ट होगा । परन्तु शोक, हम परमेश्वर से भय नहीं करते प्रत्युत् मनुष्यों से भयभीत हैं । जब कभी कोई बुरा काम करने लगते हैं तो चहुँ ओर देखते हैं कि कोई मनुष्य तो नहीं देखता । हम दो आँखों वाले से भयभीत होते हैं परन्तु नहीं जानते कि वह परमात्मा जिसकी व्यवस्था शास्त्रों ने यह की है कि सब ओर उसके चक्षु हैं वह हमें सब ओर से देख रहा है । एक विचारशील पुरुष ने कहा है कि जितने पाप के कार्य हैं वह सब अन्धेरे में होते हैं, प्रकाश में नहीं । प्रकाश में पाप का क्या काम ? आत्मा में परमात्मा का प्रकाश है । पाप और पुण्य की अवस्था हम दूसरों से छिपा सकते हैं परन्तु अपने से नहीं छिप सकती । आप जानते हैं कि आपने क्या २ कर्म किये हैं, उसी प्रकार मैं भी जानता हूँ । परमात्मा ही सब के मन की जानने वाले हैं इसलिये उपनिषद् कहते हैं—

स चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम् मनसो मनः

वह चक्षु का चक्षु, कानों का कान, और मनों का मन है । आपके मन में जा बात है, भगवान् उसको जानते हैं । इसी उपनिषद् ने कहा है—

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वदा तिष्ठति

वह परमात्मा कैसा है ? परमात्मा भूत और भविष्यत् के चक्र में नहीं आता । उसके लिये सब एक-रस वर्त्तमान है । वर्त्तमान क्या है ? कोई नहीं बतला सकता । भूत और भविष्यत् में जिसने भेद किया है वही वर्त्तमान है । वर्त्तमान प्रतीत नहीं होता परन्तु सदा बना रहता है । इसी प्रकार परमात्मा प्रतीत नहीं होता परन्तु तुम्हारे पास रहता है । तो फिर उससे असावधान होकर किस प्रकार सुख पा सकते हो ? लोग कहते हैं कि योरूप के नास्तिक किस प्रकार सुख पा रहे हैं ? मैं कहता हूँ कि यह ठीक नहीं है । जिस प्रकार आप उन्हें नास्तिक समझ रहे हैं, वे नास्तिक नहीं हैं । और जो वास्तव में नास्तिक हैं वे सुख नहीं पा रहे । उनके सुख दुख का अनुमान मैं और आप नहीं कर सकते । शास्त्र ने कहा है कि कृतघ्नता से अधिक कोई पाप नहीं । किसी के उपकार को न जानना सब मतों में पाप माना गया है । परमात्मा ने हम पर क्या कम उपकार किये हैं ? जिन वस्तुओं का जीवन से सम्बन्ध है वे उसने सब के लिये प्रदान की हैं । वायु के बिना जीवन एक घण्टा नहीं रह सकता; वायु जैसी अमूल्य वस्तु उसने सब के लिये मुफ्त दी है । प्रकाश न हो तो संसार में अन्धकार फैल जावे । प्रकाश के दाम का

अन्दाज़ा कौन कर सकता है, परन्तु परमात्मा ने प्रकाश भी अधम से अधम मनुष्य के लिये प्रदान किया है ।

गृहस्थ का बोझ हम आयु पर्यन्त उठाते हैं । किन्तु वेदों ने तो नियम बाँध रखा है कि २५ वर्ष ब्रह्मचर्य को समाप्त करके फिर २५ वर्ष गृहस्थ और उसके पश्चात् वान-प्रस्थ और फिर संन्यास । परन्तु हम २०० वर्ष के हो जावें तो भी हमारी तृष्णा गृहस्थ से पूर्ण नहीं होती । गृहस्थ का बोझ तो मरते समय तक नहीं छोड़ते और फिर कहते हैं कि प्रचार नहीं होता । भला प्रचार का काम तो स्वतन्त्र संन्यासियों का है परन्तु अब करने लगे मैं और आप, जिनको धर्म की अपेक्षा व्यक्तियों का अधिक ध्यान है । यही कारण है कि सचाई को हम लोग निर्भय होकर नहीं प्रकट करते । धर्म के प्रचार के लिये सब से अधिक साधन 'सत्य' है । आप को विदित है कि महाराजा अशोक ने किस प्रकार बुद्ध-धर्म को ग्रहण किया था ?

एक बार मैं छत्तीसगढ़ गया । वहाँ के राजा भी कबीरदासी थे । मैंने मालूम किया कि यहाँ के राजा का इस मत में कैसे प्रवेश हो गया । उत्तर मिला कि एकबार एक कबीरदासी ने एक भूठी साक्षी दे दी । उसके प्रायश्चित्त में सब कबीर-पन्थी नदी के तट पर जाकर भूखे रहे ।

इस तप का राजा पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह भी कबीर-पन्थ में सम्मिलित हो गया ।

राजा अशोक एक समय वन में मृगया के लिये गये । उसी वन में बुद्धभिन्नु रोगी पशुओं की मरहमपट्टी कर रहे थे । राजा को आते देख कर सब पशु बिलबिला उठे । इन पशुओं की यह अवस्था देखकर राजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने बुद्ध-धर्म को ग्रहण कर लिया । लंका में बुद्धमत के प्रचार का विचार हुआ । प्रश्न उठा कि कौन जावे ? सब धार्मिक पुरुषों ने प्रस्ताव किया कि राजा का पुत्र जावे तब बहुत प्रचार होगा । वह तैयार हो जाता है । थोड़ी दूर जाकर वह लौट आया । लोग समझते हैं कि महेन्द्र भयभीत होकर वापिस आ गया है । परन्तु वह उत्तर देता है कि मेरे मन में तो यह विचार उत्पन्न हुआ है कि मैं तो पुरुषों में प्रचार करूँगा परन्तु स्त्रियों में कौन करेगा ? इसलिये वह अपनी बहिन को संन्यासिनी बना कर अपने संग ले जाता है ।

इसलिये संसार में यदि सफलता चाहते हो तो दो वस्तुओं को सदा ध्यान में रखो, एक तो परमात्मा, और दूसरे मौत । मृत्यु परमात्मा के अधीन है । मृत्यु को हर समय स्मरण रखने से पाप नहीं होता । क्या आप नित्य-

प्रति नहीं देखते कि जिस समय श्मशान भूमि में जाते हैं, हमारे विचार मृत्यु और परमात्मा की ओर लग जाते हैं और उस समय पाप का लेश भी मन में नहीं रहता । इसी प्रकार जो मनुष्य मृत्यु को हर समय ध्यान में रखते हैं पाप उनके निकट नहीं फटकता ।

तेरहवाँ प्रवचन—

धर्म के तीन आवश्यक अंग

उपनिषदों में एक वाक्य आया है 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' जिसका तात्पर्य यह है कि धर्म के तीन स्तम्भ हैं, जिसके ऊपर धर्म की स्थिति है—(१) यज्ञ (२) पठन-पाठन और (३) दान ।

यज्ञ

जो कर्म मनुष्य को परमेश्वर तक मिलाता है उसको यज्ञ कहते हैं । यज्ञ वही है जिससे यज्ञ करने वाले और सर्वसाधारण को समान लाभ हो । जैसे कि अपने गृह में कूप लगाया है और दूसरे को पानी नहीं भरने देते, इसका फल केवल आपको है । दूसरी ओर एक कूप ऐसे स्थान पर लगाया जहाँ पर लोगों को कूप न होने से कष्ट होता था, उससे आपको तो विशेष लाभ नहीं है, परन्तु सर्वसाधारण को है । आज इस प्रकार के सर्वहित के काम करने वाले बहुत कम हैं । जब संसार में इन पुरुषों की संख्या बढ़ती है तो लोग सुख के मार्ग पर चलते हैं,

अन्यथा दूसरी दशा में दुःख के मार्ग पर चलते हैं। एक रागी किसी कमिश्नर साहिब के पास गया और स्टेशन के विषय में कविता की। साहिब सुन कर बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि परसों पारितोषिक देंगे। जब वह परसों गया और इनाम के लिये याचना की तो साहिब ने कहा कि इनाम क्यों दें ? इस प्रकार के स्वर से तुमने हमें प्रसन्न किया, हमने भी परसों की प्रतिज्ञा देकर आप को प्रसन्न कर दिया, कोई सर्वसाधारण के लाभ की बात बतलाओ तो इनाम मिलेगा।

दूसरा अङ्ग

अध्ययन अर्थात् विद्या का पढ़ना और पढ़ाना। इस क्रम में माताओं और बहनों को तो पृथक् कर दिया गया है, परन्तु मैना और तोते को पिंजरे में बन्द करके पढ़ाया। क्या कन्याओं को बिना पढ़ाए रखकर सुख पा सकोगे ? गुड़ियों की रीति इसीलिए प्रचलित हुई कि माताओं ने एक प्रकार नाटक करके दिखला दिया कि जिनका विवाह करते हो वह तो ऐसी निर्जीव हैं जैसे कि गुड़ियाँ। वेद में तो कहा है—

मातृमान् पितृमान् आचार्य्यमान् पुरुषो वेद

कि माता बालक की असली गुरु है। माता गोद

में खिलाती हुई बच्चे के लिये इतनी विद्या उपार्जन करती है जितनी कि पिता वर्ष में भी नहीं कर सकता । जितना माता और पिता का प्रभाव अपनी सन्तान पर पड़ता है उतना आचार्य का कभी नहीं हो सकता । माता-पिता के विचारों का परिणाम बच्चा होता है ।

दो पुरुष परस्पर गाली निकालते हैं परन्तु बुरे शब्दों को सुनकर सब का आनन्द जाता रहता है । जब दो पुरुषों के गाली देने से सुनने वालों के अन्तःकरण मलीन होते हैं तो भला माता के गर्भ में पिता के क्रोध और लड़ाई से क्यों न बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ता होगा, और क्यों न उसकी बुद्धि भ्रष्ट होगी ? जब तक माताओं की शिक्षा न होगी सन्तान मूर्ख रहेगी और यह सारे काम अधूरे और अपूर्ण पड़े रहेंगे ।

अरस्तु का कथन है कि यदि किसी देश की दशा को मालूम करना चाहो तो धन, सड़कों, स्कूलों, उद्यानों, मकानों, न्यायालयों आदि का हालात पूछने से मालूम नहीं होंगे, परन्तु उस देश की स्त्रियों की अवस्था पूछने से वास्तविक दशा प्रगट हो सकती है कि वहाँ के लोग विद्वान्, सदाचारी हैं, अथवा भीरु, कायर और गिरे हुए प्रतीत होते हैं । हमने अपनी भूल से स्त्रियों को विद्या से वञ्चित रखा और उसका फल भोग रहे हैं ।

तीसरा अङ्ग

दान—मनुष्य के स्वभाव में है कि दान देता रहे । एक स्थान पर ५० रोटियाँ हैं और २५ पुरुष हैं, यदि बाँटी जावेंगी तो दो रोटी प्रति पुरुष को मिलेगी । परन्तु १० पुरुष यदि ५-५ के हिसाब से ले लेवें, तो शेष भूखे रह जावेंगे । इसी प्रकार भोजन तथा वस्त्रों की दशा है । और यही हमारे अन्याय का फल हो रहा है ।

दान की प्रणाली में बड़ी गड़बड़ है । हम दान करते हैं, परन्तु हमारी हानि होती है । श्रीकृष्णचन्द्र जी ने कहा है कि दान, देश, काल और पात्र की परीक्षा करके दो । धनवालो ! अगर दान करते हो तो पहले देश की परीक्षा करो । यदि जल का कष्ट होवे तो तड़ाग, कूप, बावली लगाकर दूर करो । यदि रोग से देश पीड़ित है तो औषधालय खोलकर अपने कर्तव्य का पालन करो । और यदि देश में विद्या की न्यूनता है तो विद्यालय और पाठशालायें खोलो । परन्तु सत्य कहा है कि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' हमने दान का उल्टा ही अर्थ समझा है । हमने यही मान लिया है कि गया, हरिद्वार आदि तीर्थों पर पंडों को दान दे दो । काल का आशय यह था कि शीत, उष्ण तथा ऋतु अनुसार दान करो । दुर्भिन्न आदि

में निर्धन और अनाथों की सहायता करो । अब उसके स्थान में एकादशी पूर्णमासी पर दान किया जाता है । एकादशी का आशय तो यह था कि प्रतिदिन खाने वाला एक दिन न खावे तो आरोग्यता हो जाती है । भारतवर्ष में यह हाल है कि अजीर्ण है तो वैद्य के पास जाते हैं चूर्ण लेते हैं । पाचन-शक्ति को ठीक करने के लिये निराहार नहीं रहते, हैजा और अजीर्ण खरीद लेते हैं । इसलिये लाभ के स्थान में हानि हो रही है ।

पात्र के अर्थ अधिकारी के हैं । जिनके माता और पिता जीवित न रहें वे अनाथ हो जाते हैं । उनका बोझ जनता पर है । जो विधवायें हो जावें उनकी रक्षा करें । विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों को विद्या-दान करें । भारत-वासी इसी प्रकार मनुष्य-धर्म का पालन किया करते थे । परन्तु अब गया के पण्डे, मथुरा और हरिद्वार के चौबे १७५००० के लगभग हैं । इनका काम है भंग का पीना खाना और गंगा के तट पर जाकर शौच होना अथवा लठवाजी करना और लड़ना । इस रूप में दान लेने वाला और दानी दोनों ही पापी हैं । प्रश्न यह है कि देने वाला क्यों पापी है ? लोग बन्दूकों से मृग मारते हैं, यदि मैं किसी को बन्दूक दूँ और गोली न दूँ तो वह बन्दूक नहीं चल सकती । मृग तब ही मरेगा जब

बारूद भरा हो और गोली भी हो । बारूद का काम तो हमने धन से लिया, गोली का काम बुरे काम से उन्होंने किया । भला यदि सारे संन्यासी आदि विद्वान् हों तो भारतवर्ष की यह दुर्दशा होती ? इस देश में ५२ लाख के लगभग साधु हैं । यदि दान की प्रणाली ठीक हो जावे तो एक ही वर्ष में भारतवर्ष की अवस्था का परिवर्तन हो कर सारे काम ठीक हो जावें । अम्बाला में मेरे पांव में ठोकर लगी, अब तक पीड़ा है और नंगे पांव कई दिनों से चलना पड़ता है । यह अपने विपरीत कामों का ही तो परिणाम है । आँखें खोलकर संभलकर चलता तो आज यह दशा न होती । सज्जनो ! यही अवस्था दान की है । धन कमाकर उल्टी ओर लगाया है, और भुगत रहे हैं । अब तो पंडों के लिये ही २५) तोला का इतर गाज़ीपुर वाला काम आता है, गृहस्थी थोड़ा मोल ले सकते हैं ? यदि सोच-विचार कर दान करते तो दान लेने वालों को भी होश होती कि किस प्रकार से पुरुष भूषण आदि बेचकर भी और ऋण उठाकर भी दान करते हैं । वह अपनी सन्तान को पढ़ाते और धर्म उपदेश करते, उनको धन की चिन्ता न रहती । पढ़ना धन कमाने के लिये है और जब दान मिल जाता है तो फिर इसीलिये तो पढ़ाते नहीं । परिणाम यह है

कि अविद्या और विषयों में पड़े रहते हैं। नीतिकार कहते हैं कि मनुष्यो ! धन दान दो तो बुद्धिमानों और विद्वानों के लिये। इस पर एक दृष्टान्त देता हूँ। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में तालाबों और समुद्रों से जल उड़ता है। सूर्य की किरणों से तालाब, हौज, नदियों का जल न्यून रह जाता है। ऊपर जाकर वायु के सम्बन्ध से जल बन कर नीचे गिरता है। पर्वतों की हिम को पिघलाया, तराइयों को ठण्डा किया, वन-उपवन को हरा-भरा कर दिया, नदियों को बहाया, गर्मी बुझाई और फिर उन्हीं नदियों, तालाबों, और समुद्रों को भी भर दिया। अर्थात् जहाँ से पानी उड़ाकर न्यून किया था उनको भी भर पूर्ण कर दिया। इसी प्रकार से शास्त्र की आज्ञा है कि दान करो। एक समय का वर्णन है कि एक माली ने गुलाब के पुष्प उद्यान में लगाये हुए थे; बुल-बुल उनको नोचती थी। माली ने जाल बिछाया जिसमें बुलबुल फँस गई, माली ने उसे पिंजरे में बन्द करके लटका दिया। बुलबुल इस प्रकार कहने लगी— एक वन में चार पुरुष जा रहे थे कि इतने में एक तीतर बोल उठा। उनमें से एक जो पहलवान था वह तीतर के शब्द सुनकर बोला कि यह कहता है—“दंड, कुस्ती और कसरत।” दूसरा मुसलमान था उसने कहा, यह

कहता है—“सुभान तेरी कुदरत ।” तीसरा जो वैश्य था उसने कहा, यह कहता है—“सोंठ अजवायन अदरक ।” चौथा जो वैरागी था उसने कहा यह कहता है—“सीता-राम व दशरथ ।” प्रत्येक ने अपने-अपने विचार-अनुसार तीतर के शब्द की व्याख्या की। इससे माली के मन में यह बात जँच गई। उसने समझा कि बुलबुल उसे कह रही है कि ऐ मनुष्य ! तुझको तो ईश्वर ने मनुष्य बनाया है, मैं भूल कर सकती हूँ अतः क्षमा माँगती हूँ, क्षमा करना मनुष्य का धर्म है, तू मेरी स्वतन्त्रता को क्यों रोकता है ? माली ने पिंजरे से उसको छोड़ दिया। बुलबुल वृक्ष पर जा बैठी और बोलने लगी कि माली ! परमात्मा दयावान् है और करुणानिधान है इसलिये जिस वृक्ष की शाखा पर मैं बैठी हूँ, तू उसको खोद, वहाँ स्वर्ण-मुद्रिका का घड़ा दबाया हुआ है। जब माली ने खोदा, उसमें से स्वर्ण-मुद्रिका निकली, वह उनको देखकर शोकतुर हो बैठ गया। सन्देह और चिन्ता उसको इसलिये हुई कि सामने की वस्तु अर्थात् जाल को तो बुलबुल ने नहीं देखा परन्तु आश्चर्य है कि भूमि के अन्दर दबी हुई वस्तु को देख लिया है। बुलबुल ने कहा कि जब मृत्यु आती है तो सामने पड़ी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती।

अतः अब आप लोगों का कर्तव्य है कि स्वयमेव सावधान होकर यज्ञ और दान की महिमा को समझें, इनका ठीक और ज्ञानपूर्वक सेवन करें। धर्म स्वयमेव फल देगा, सब संसार में सुख होगा, और आपकी कीर्ति होगी। परमात्मा आप लोगों को बल दें !

चौदहवाँ प्रवचन—

स्वाध्याय ही जीवन है ।

स्वाध्याय से मनुष्य के जीवन में विचित्र परिणाम होता है । मनुष्य जीवन के उद्देश्य की पूर्ति का मुख्य साधन यही है । बिना स्वाध्याय के कोई भी पुरुष अपने हिताहित की विवेचना ठीक-ठीक नहीं कर सकता । जिन पुरुषों की ख्याति आजतक संसार में विख्यात है, व जिनका नाम बड़े गौरव व प्रतिष्ठा से स्मरण किया जाता है, जिनके जीवन-चरित्र का अवलोकन करना साधारण पुरुषों के अन्तःकरण को सच्चरित्र बनाने का हेतु बन जाता है, वे सब महानुभाव स्वाध्यायशील थे ।

प्रबल स्वाध्याय के प्रताप का ही यह फल है कि विद्वानों ने परमेश्वर-रचित पदार्थों की सहायता से ऐसे-ऐसे अद्भुत और विचित्र गुणों का आविष्कार कर दिया कि जिनको स्वाध्यायहीन पुरुष अपने विचार में भी नहीं ला सकते । इसी विषय में उपनिषदों का वचन है—

स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्

अर्थात् स्वाध्याय से कभी भी प्रमाद (लापरवाही)

न करनी चाहिये । स्वाध्याय से मनुष्य के मन में सुधार के अंकुर और बुद्धि में सूक्ष्मता उत्पन्न होती है जिससे मनुष्य उचितानुचित कार्य को जानकर अनुचित के परित्याग और उचित के ग्रहण में समर्थ हो जाता है । मनुष्यों के लिए सन्मार्ग का प्रदर्शक स्वाध्याय ही है । जिस प्रकार नए अंकुर को जल की आवश्यकता होती है, जब तक उसकी मूल-शाखा जलाशय तक न पहुँच जाय । (जल-सेचन अंकुर को वृद्ध और वृद्ध को सुपुष्पित सुपल्लवित बनाने का हेतु बन जाता है, बिना जल की सहायता के अंकुर मुरझा कर नष्ट होता है) ठीक यही सम्बन्ध मनुष्य-जीवन के साथ स्वाध्याय का है । इससे मनुष्य के विचार शुद्ध और पवित्र होकर उसमें परोपकार करने की योग्यता का सम्पादन कर देते हैं जिससे मनुष्य अपने लिये हितकर होकर जनता के वास्ते हितकारी बन जाती है । जिससे संसार में सुख की मर्यादा उत्तरोत्तर स्थिर हो जाती है । प्रमाद से जो व्यक्ति अथवा जाति स्वाध्याय से विमुक्त हो जाती है, शनैः २ उसका अधःपतन होने लगता है । उसके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बल का हास, जगत् में उपहास, इच्छा का विघात, मनोमालिन्य, उदासीनता आदि अनेक उपद्रवों के संचार से जीवनमात्र ही भार हो जाता है

अतः स्वाध्याय का सदैव आदर करो और कर्तव्य के पालन में तत्पर रहो। योगदर्शन में भी स्वाध्याय का फल बताया है —

स्वाध्यायादिष्ट-देवता-सम्प्रयोगः

इसका आशय यह है कि स्वाध्यायशील पुरुष का इष्ट देवता के साथ मिलाप या उसके साथ आलाप होता है। यह विचारणीय विषय है। आपके पुस्तकालय में अनेक प्रकार के पुस्तक रखे हैं। आज महात्मा व्यासदेव जी या महानुभाव शंकराचार्य जी महाराज संसार में नहीं हैं, परन्तु उनके साथ वार्त्तालाप करने का, उनके रचित शारीरिक सूत्र व भाष्यादि पुस्तकावलोकन के बिना उपायान्तर नहीं है। पुनः २ उनका स्वाध्याय करने से यह प्रतीत होता है कि हम उनसे ही आलाप कर रहे हैं। कारण यह है कि उन ग्रन्थों में उन महानुभावों के ही मनोभाव विद्यमान हैं। यदा-कदा आपको वेदान्त-विषय में कोई शंका उत्पन्न हुई। वेदान्तदर्शन के देखने से शंका निवृत्त होने पर विचारने से यह पता लगता है कि साक्षात् महात्मा व्यासदेव जी आये और शंकासमाधान कर के आत्मारी के एक कोने में, जो उनका नियत स्थान है, जा विराजे, यही उनके साथ मिलाप है। यदि आर्यसमाज अपनी सारी विभूति

देकर भी महानुभाव ऋषि दयानन्द जी महाराज से वार्तालाप करना चाहे तो असम्भव है। वह संसार में विद्यमान ही नहीं हैं, परन्तु उनके रचित सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका आदि पुस्तकों के स्वाध्याय में उनके साथ मिलाप और आलाप हो जाता है। इस कारण सर्वसज्जन महाशयों को न्यून से न्यून दो घण्टा स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। परन्तु हमको आलस्य ने इतना दबाया है कि वह ऋषि जो पुस्तकाकार आल्मारी में पड़े दीमक से सताये जा रहे हैं, उनका मिलाप तो क्या होगा किन्तु कोप तो अवश्य ही होगा। इस प्रकार का कोप किसी के सुख का कारण नहीं हो सकता। इस कोप की निवृत्ति स्वाध्याय से हो सकती है। आर्य-समाज के उत्सव के समय जहाँ उपदेश व भजनादि होते हैं वहाँ एक समय इस विचार के लिये (कि आर्य-समाज व वैदिक धर्म की उन्नति किस प्रकार से हो सकती है ?) स्थिर किया जाता है। जहाँ कई और उन्नति के कारण बताये जाते हैं वहाँ स्वाध्याय का न होना उन्नति का बाधक और इसका होना उसका साधक प्रगट किया जाता है। इसमें विचित्रता यह है कि जो महाशय इस विषय की पुष्टि करते हैं वे स्वयं स्वाध्याय-विहीन रहते हैं। यह कितनी त्रुटि की बात है।

स्वाध्याय के बिना सद्विचार स्थिर नहीं रहते । सद्विचारों के अभाव से सदाचार की हीनता प्रबल हो जाती है । सदाचार का दूर हो जाना किसी के भी सौभाग्य का कारण नहीं हो सकता, अतः स्वाध्याय को स्थिर करके अपने हिताहित की चिन्ता करा । सबका इष्टदेवता जो परमात्मा है उसके साथ सम्प्रयोग करने का उपाय स्वाध्याय ही है ।

उदारशील बनो

जब तक मनुष्य का स्वभाव उदार नहीं होता तब तक उसके अन्तःकरण से स्वार्थ का उच्छेद होना अति कठिन है, बिना इसके दूर हुए कोई भी पुरुष लोकोपकार का काम नहीं कर सकता ।

जैसे आँख को भिन्न २ रंगों को देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार परोपकार करने के लिये स्वार्थ-त्याग की जरूरत है । जो लोग खुदगर्जी को छोड़े बिना परोपकार करने में तत्पर होते हैं वे वास्तव में धर्म की मर्यादा को नहीं जानते । धर्म-मर्यादा के स्थिर करने में वे ही पुरुष सामर्थ्यवान् हुए जिन्होंने स्वार्थ को छोड़कर अपने आप को उदारचित्त बनाया । किसी कवि ने उदार और अनुदार पुरुषों का स्वभाव एक श्लोक में वर्णन किया है—

अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह मेरा है और यह अन्य है, ऐसा लघु विचार स्वार्थी पुरुषों का होता है। जो परोपकार करने की भावना से ओतप्रोत हैं उनके विचार आकाश की तरह बे-रोक-टोक होते हैं, सम्पूर्ण संसार उनका कुटुम्ब अर्थात् अपना आप ही होता है। जिस प्रकार पुरुष अपने लिये या अपने अङ्गों के लिये अहित-चिन्तन नहीं कर सकता परन्तु हित में ही लगा रहता है, ऐसे ही उदारवृत्ति पुरुष प्राणिमात्र की हित-चिन्ता सदैव करते रहते हैं।

अतः पुरुषों को परोपकार करने के लिये स्वार्थ-त्यागी और उदार बनने का यत्न करना चाहिये। स्वार्थ अर्थात् खुदगर्जी मनुष्य के उदार भावों को नष्ट कर दुष्ट भावों को जो प्राणिमात्र के दुःख का बीज हैं, उत्पन्न कर देती है। दुष्ट भावों के विषय में महात्मा मनु जी महाराज इस प्रकार लिखते हैं, ध्यान से सुनिये।

वेदास्त्यागश्च यज्ञश्च, नियमाश्च तपांसि च।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कस्यचित्॥

वेदों का पढ़ना, त्याग, यज्ञ नियम और तप सर्वोपरि जन्म-मरण के जाल को काटकर मोक्ष के साधन हैं। परन्तु जिसका भाव दुष्ट है उसके लिए ये फलदायक नहीं हो सकते।

चारों वेद—जिनमें कर्म, उपासना, ज्ञान और विज्ञान-कोण्ड का निश्चय किया हुआ है जो मनुष्यमात्र के लिए सन्मार्ग-प्रदर्शक हैं ।

त्याग—पुरुष के जीवन में त्याग एक ऐसी शक्ति है जिससे वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है ।

नियम—योगशास्त्र में नियम पांच प्रकार के कहे गये हैं:—

१. शौच—बाह्याभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है । बाह्य—जलादि से शरीर की शुद्धि; आन्तरिक—सत्य भाषणादि के द्वारा मन की शुद्धि करना ।

२. सन्तोष—स्तुति, निन्दा, हानि, लाभ, मान और अपमान में सत्य का परित्याग न करना, सन्तोष कहाता है ।

३. तप—विपत्ति के समय धैर्य का न छोड़ना और सम्पत्ति में निरभिमान रहना तप माना गया है ।

४. स्वाध्याय—वेदादि सत्य-शास्त्रों का सदैव विचार करते रहना स्वाध्याय कहा गया है ।

५. ईश्वर-प्रणिधान—अशुभ कर्मों के करने में सदैव ईश्वर का भय और शुभ कर्मकलाप को ईश्वरार्पण करना ।

तप—मलविक्षेप के दूर करने के लिए सदैव प्रयत्न करना तप कहाता है ।

जब मनुष्य के शुद्ध भाव होते हैं तब विद्यादि सत्य-शास्त्रों का फल यथार्थरूप में होता है, मनोमालिन्य होने से (जैसे मलिन दर्पण में देखने से मुख मलिन दीखता है) वेदादि सत्य-शास्त्र आत्मा के लिए हितकर नहीं होते ।

अतः मनुष्य के शुद्ध भाव होने से वेदादि-शास्त्र सन्मार्ग-प्रदर्शक होते हैं, अन्यथा नहीं । इसलिए प्रत्येक पुरुष को उचित है कि वह उत्तमाधिकारी बने और अपने मन को पवित्र करने में सदैव प्रयत्न करे । इस उदाहरण से आप अच्छी प्रकार समझ सकते हैं कि एक पात्र जिसमें अम्ल (खटाई) लगी हुई है यदि उसको स्वच्छ किये बिना उसमें दूध डाल दें तो वह दूध अपनी असली दशा में नहीं रहता, पात्र के दोष से दूषित होकर दुग्ध फट जायगा । इसी प्रकार विद्या दुष्ट भावों से मिलकर अविद्या में परिणत हो जाती है जो पुरुष को सन्मार्ग से हटा कर असन्मार्ग (कुटिलमार्ग) की ओर ले जाती है, जो संसार में शान्ति के भङ्ग करने का निमित्त बन जाती है । जिसके अतःकरण में शुद्ध भावों का उदय होता है उसका यह स्वभाव बन जाता है कि स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट उठा कर भी लोकोपकार का काम नहीं छोड़ता ।

उदार वृत्ति के बिना शुद्धभाव नहीं होता और बिना शुद्धभाव के लोक का हित होना अति कठिन है । उदारता

शुद्धभाव को उत्पन्न करके पुरुष को विपत्ति के समय अति कठोर और सम्पत्ति के समय विनीत, और दुःखित को देखकर करुणामय बना देती है। बस, ऐसे पुरुषों की अधिकता संसार को सुखमय बनाने का हेतु बन जाती है। किसी कवि ने इस पर बहुत ही अच्छा विचार किया है। जैसे—

आकोपितोऽपि सुजनो न वदत्यवाच्यम्,
निष्पीडितोऽपि मधुरं क्षरतीक्षुदण्डः ।
नीचो जनो गुणशतैरपि सेव्यमानो,
हांस्येषु यद्वदति तत्कलहेषु वाच्यम् ॥

जिस तरह इक्षु-दण्ड (गन्ना) पेला जाने पर भी मधुर रस ही छोड़ता है, ठीक इसी प्रकार उदारवृत्ति सज्जन पुरुष अनेक कष्ट पड़ने पर भी लोकहित की चिंता ही करते रहते हैं, न्यायपथ से कभी भी पृथक् नहीं होते। तथा उदारताहीन पुरुष का बल बुद्धि और पुरुषार्थ सब स्वार्थ के लिये ही होता है। स्वार्थ के रुकने से कलह के उत्पन्न करने में कटिबद्ध हो जाते हैं, अतएव कवि ने ऐसे पुरुषों को नीच शब्द से याद किया है।

महानुभाव ऋषि दयानन्द महाराज ने बुद्धि की शुद्धि द्वारा विद्या को ग्रहण किया। शुद्ध भावों के साथ

मिलकर विद्या ने अन्तःकरण में जगतहित अर्थात् उदारवृत्ति को उत्पन्न कर दिया । उदारता ने फिर स्वार्थ को आने का अवकाश ही नहीं दिया । उदारवृत्ति ने अविद्या को, जो मनुष्य को स्वार्थी बनाने का एक मुख्य कारण है, दूर करने में कितने जोर से संग्राम किया । इस वृत्ति में एक और विचित्र शक्ति है जो ऋषि के चरित्र से हम को प्रत्यक्ष मिलती है; उदार पुरुष के साथ चाहे कोई कितना ही अनुचित कार्य क्यों न करे, वह वृत्ति उसको उदार बने रहने के लिये ही बाधित करती है । सुनिये—

ऋषि को एक पुरुष ने, जो हेत्वाभास की तरह ऊपर से मित्र और भीतर से शत्रु था, विष दे दिया । अचेत अवस्था में किसी ने स्वामी जी से कहा कि वह मनुष्य पकड़ा गया । कई बार ऐसा कहने पर स्वामी जी ने शनैः २ उत्तर दिया कि उसको छोड़ दो । मुक्ति का उपदेश करने वाला, सन्मार्ग दिखाने वाला किसी को न बन्धन में फँसाता और न उल्टे मार्ग पर चलाता है । इसके पश्चात् जब स्वामी जी को नशे के दूर हो जाने से होश आया तो मनुष्य-समुदाय की उपस्थिति में उस पुरुष को, जिसने स्वामी जी को विष दिया था लाये, तो स्वामी जी ने फिर कहा कि अच्छा, जो हुआ सो

हुआ, अब इसको छोड़ दो । लोगों ने कहा कि स्वामी जी महाराज, ऐसे मनुष्य को छोड़ना उचित नहीं; क्योंकि यह बड़ा दुष्ट है । ऋषि ने इसका यह उत्तर दिया कि आप लोग विचार तो करें कि जब एक आदमी अपनी बुराई को नहीं छोड़ता तो एक सज्जन पुरुष अपनी भलाई को छोड़ दे, सो कब उचित है ।

इस परीक्षा से आपको पता लगा होगा कि उदार-वृत्ति, पुरुष को कैसे उत्तम और सहिष्णु बनाती है और मनुष्य जीवन को उच्च आदर्श की तरफ ले जाती है । अतः मनुष्य को उचित है कि वह उदार बनने का यत्न करे अथवा लोकहित-चिन्ता को सर्वथा त्याग दे । यही सर्व सत्यशास्त्रों की मर्यादा है ।

अभ्यासी बनो

अभ्यास के बिना कोई पुरुष संसार में प्रतिष्ठा व मान का भागी नहीं हो सकता । तब तक संसार में कोई भी मनुष्य या मनुष्य-समुदाय अपने आप को उन्नतावस्था में नहीं ले जा सकता जब तक वह अभ्यास करने को अपना मुख्य कर्त्तव्य न मान ले । आज संसार में जितने अद्भुत दृश्य व विचित्र घटनाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे सब अभ्यासशील जनों की क्रीड़ामात्र ही हैं । अभ्यास में यह एक विचित्र शक्ति है कि कोई भी वस्तु व मार्ग कितना ही कठोर अथवा विकट क्यों न हो, इसके बल से सरल और सुगम हो जाता है । और इसके अभाव में साधारण से साधारण कार्य, सुगम से सुगम पथ भी भयंकर रूप धारण कर असाध्य प्रतीत होता है । अन्वयव्यतिरेक व कार्यकारणभाव से सिद्ध होता है कि अभ्यास ही मनुष्यों की सुख-सम्पत्ति और निःश्रेयस (मोक्ष) का एकमात्र कारण है और अभ्यास का न होना ही भ्रमजाल में फँस कर दीन, बलहीन, मतिमलीन होकर जन्ममरणादि अनेकविध दुःखों का कारण हो जाता है ।

अब मैं दो दृष्टान्त आपके सामने रखता हूँ। पाठक महोदय आपको पढ़कर अभ्यास के महत्व का अनुभव कर स्वयं अभ्यासी होने का यत्न करेंगे।

वेदों में अधिक समास नहीं हैं, जो हैं वे दो २ व तीन २ पदों से मिलकर बने हैं। क्रिया व उपसर्ग सब ही प्रत्यक्ष और भाषा सरल है। परन्तु अभ्यासाभाव से यथार्थ रूप में उनका अर्थबोध होना कितना कठिन प्रतीत हो रहा है। महीधरादि विद्वानों को (यह जानते हुए भी कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं) किंचित् बोध न हुआ कि निर्भ्रान्त परमात्मा की शान में इस प्रकार की अश्लील वाक्य-रचना व गाथा हो सकती है वा नहीं? यहाँ अभ्यास का व्यतिरेक है। वर्तमानकालीन काव्यों में समास बहुत और दीर्घ हैं, अप्रतीत क्रिया, कठिन भाषा है, परन्तु अभ्यासाधार से सुगम हो रहे हैं। यहाँ अभ्यास का अन्वय है। वेदों के पठन-पाठन से परमात्मा का ज्ञान, आत्मा का कल्याण, कर्त्तव्य की पहिचान और दुःखों का नाश होता है। जिस देश के महानुभाव ऋषि-मुनियों ने अभ्यासी होकर वैदिक ज्ञान के द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के मार्गों का निर्देश कर दिया था, आज उन्हीं की सन्तान आलस्य और प्रमाद में फँसकर मिथ्याभिमान, वैर विरोध और रस्मोरिवाज के कीचड़ में धँस कर जिस

दुःख को अनुभव कर रही है, वह कथन से बाहर है ।

इसके विपरीत अन्य साधारण देश-निवासियों ने लगातार अभ्यास का आश्रय लेकर विचित्र और अद्भुत वस्तुओं का आविष्कार करके साँसारिक सुख को प्राप्त किया और प्रतिष्ठा के भागी हुए । मित्रवर ! यह अभ्यास ही की तो महिमा है कि वे जिस वस्तु की अनायास रचना कर देते हैं, हम अभ्यासहीन पुरुषों की समझ में आती ही नहीं ।

परमात्मा की सृष्टि में सब पदार्थ विद्यमान हैं, अभ्यासशील पुरुष उन पदार्थों की संयोजना व वियोजना के द्वारा उनको अपने अनुकूल और सुख के साधन बना लेता है परन्तु अभ्यास-रहित उन सुख-साधनों की उपस्थिति में भी सुख से वञ्चित होकर दुःख पाता है । महानुभाव ऋषि दयानन्द जी महाराज ने अभ्यासी होकर वेदों के शब्दार्थ-सम्बन्ध की छानबीन की और जान लिया कि वेदों से बढ़कर मनुष्य-जीवन को पवित्र करने वाली और कोई शिन्ना नहीं है । इसलिए “संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य कर्त्तव्य है”, यह नियम बना दिया । उनको यह निश्चय था कि यदि आर्य्य सन्तान आलस्य त्याग वेदों के अभ्यास में तत्पर हो जावे तो अपने कर्मों को पहिचान कर वर्णाश्रम-व्यवस्था का ठीक २ पालन

करने लग जावेगी । तब संसार का उपकार करना कुछ भी कठिन न होगा ।

अतएव आर्य्य सज्जनो ! अभ्यासी बनो, अभ्यास करना सीखो, आने वाली सन्तान को अभ्यासशील बनाओ । सत्य है “अभ्यासनशीलाः सुखिनो भवन्ति” । सद्गुण सम्पत्ति के लिए लगातार प्रयत्न करने का नाम अभ्यास है ।

(१) अभ्यासी पुरुष व्यसनी नहीं होता, क्योंकि बाह्य विषयों से आने वाले संस्कार उसके अन्तःकरण में स्थिर नहीं होते ।

(२) अभ्यास करना यद्यपि कठिन तो प्रतीत होता है, किन्तु यदि पुरुष कुछ काल तक इसका आदरपूर्वक सेवन करे तो फिर अभ्यास ही उसको नहीं छोड़ता और हिताहित मार्ग का आचार्य्य बन कर उत्तरोत्तर जीवन को पवित्र बनाता है ।

(३) अभ्यासी पुरुष ही स्वस्थ रहता है और उपकार करने में सामर्थ्यवान् होता है ।

(४) अभ्यासी पुरुष अभ्यास के कारण बलहीन कभी नहीं होता ।

(५) अभ्यासी पुरुष अभ्यास के बल से मृत्यु से नहीं डरता । कारण यह कि उसका जीवन बाकायदा होता है ।

विचारशील बनो

बिना विचारे जो कार्य किया जाता है उसका परिणाम ठीक नहीं होता । कर्त्ता के अनुकूल फल का न होना जगत् में उपहास और अन्तःकरण में पश्चात्ताप का कारण बन जाता है, जिससे विकलता की वृद्धि और परिश्रम की हानि उत्तरोत्तर विचारों की दुर्बलता का निमित्त हो जाती है । संसार में सम्पूर्ण कार्य विचाराधीन हैं । अतएव संसार-क्षेत्र में सदैव सब को विचारपूर्वक कार्य करना ही उचित है । विचारने और शास्त्रावलोकन से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि जब तक अन्तःकरण सद्विचारों के प्रभाव से प्रभावित नहीं हो जाता तब तक लोकोपकार करने का अंकुर उसमें उदय ही नहीं होता । परहित-चिन्ता का मूल कारण सद्विचारों की जाग्रति ही है । इसके बिना तो मनुष्य अपना उपकार भी आप नहीं कर सकता, औरों का उपकार करना तो अति दूर है । सुविचार प्रथम पुरुष के मन में सद्गुणों का प्रसार करके उसको उपकार के योग्य बनाते हैं, तत्पश्चात् उस पर

लोकोपकार करने का रंग जमाते हैं । सभ्यजनो ! यदि हम किञ्चित् विचार से काम लें तो कितना सीधा और सरल मार्ग प्रतीत होता है कि जोस्वयंबली व गुणी हैं वे औरों को बलवान् व गुणवान् बना सकते हैं अन्यथा नहीं । कारण यह कि जो वस्तु जिसके पास उपस्थित ही नहीं है वह अन्य पुरुषों को नहीं दे सकता । संसार में जिन महानुभावों ने परोपकार के लिये कदम उठाया, उन्होंने प्रथम दीर्घ काल तक निरन्तर और संस्कारपूर्वक उसके साधनों के एकत्रित करने में प्रयत्न किया । साधनसंपन्न होते ही अन्तरङ्ग में उदारवृत्ति की तरङ्ग उठने लगी । उस तरङ्ग के उठते ही 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का राग आलापने लगे । यही मनुष्य जीवन की अन्तिम सीमा है । इस वृत्ति में एक अद्भुत शक्ति है कि सत्य के विरोधी पदार्थों को, चाहे वे कितने ही प्रिय और सुख के साधन क्यों न हों, परित्याग कर देती है और सदैव सत्य की रक्षा करती है । स्वभाव इसका विचित्र है । यह उदारता की वृत्ति दुःखी, दीन, बलहीनों को देख कर अतीव कोमल हो जाती है । असहायों की सहायता करना, विद्याहीनों को विद्यादान, बलहीनों को बल प्रदान करना ही अपना मुख्य उद्देश्य बना लेती है । तन, मन, धन अर्थात् सर्वस्व को परोपकार के अर्पण कर देती है और

विपत्ति के आने पर अति कठोर वज्रसम होकर सहारती है। प्रत्येक विपत्ति इसके सामने सम्पत्ति के रूप में बदल जाती है। अतएव विचारशील बनना और विचारपूर्वक कार्य करना ही सब पुरुषों को हितकारी हो सकता है। जब तक अन्तःकरण सच्चरित्र नहीं होता तब तक इस उदार-वृत्ति का चित्र उसमें उतर ही नहीं सकता। अन्तःकरण की सन्मार्ग-प्रवृत्ति का कारण सत्सङ्ग और महान् आत्माओं के चरित्रों का स्मरण करना ही है। महाभारत युद्ध के लगभग तीन सहस्र वर्ष के बाद महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। मनुष्य की जीर्ण दशा व मरणावस्था को निहार कर उसके अन्तःकरण में एक आघात हुआ जिसके होते ही उदार-वृत्ति का विकास हो गया। दुखियों के दुःख को दूर करना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य मान लिया। कुछ काल तक संसार के सुख को अनुभव करते हुये जब एक पुत्र उत्पन्न हुआ तब फिर उस वृत्ति का उत्थान हुआ। उदासीन होकर संसार के सुख को त्यागने के लिये कटिबद्ध हो गये। चलते समय पुत्र-दर्शन का स्नेह हृदय में उत्पन्न हुआ। अपनी माता के पहलू में बालक जहाँ शयन कर रहा था, उसी स्थान में जा उपस्थित हुए। अद्भुत दृश्य का सामना हुआ। आँखों से आँसू बहने लगे, शरीर काँपने लगा। एक ओर पुत्र

का स्नेह, दूसरी ओर लोकोपकार का ध्यान ! क्या ही विचित्र घटना है ! उदार-वृत्ति परहित-चिन्ता का मार्ग दिखाती है, पुत्र की प्रीति मोह में डाल कर जगत में फँसाती है । इस मानसिक संघर्ष के बाद बुद्ध ने पुत्र-स्नेह का परित्याग कर दिया । उन्हें योगिराज कृष्णचन्द्र की निम्नोक्ति का ध्यान हुआ—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

मन के विषय-वासना में फँसने से लोकोपकार नहीं हो सकता । ऐसा विचार कर जङ्गल का मार्ग लिया । साधन-सम्पन्न होकर महात्मा बुद्ध ने दीन-दुखियों के क्लेश-मोचन और शांति-प्रदानार्थ जो प्रयत्न किया उसे पाठकगण स्वयं जानते ही हैं, अधिक कथन की आवश्यकता नहीं है । बुद्धदेव के देहान्त के बाद कुछ काल तक तो उनके उद्देश्यों की उन्नति होती रही, उसके पश्चात् जिन त्रुटियों के दूर करने का यत्न किया था, उन्हीं दोषों ने आ घेरा । महात्मा का कथन था कि कर्म-तन्त्र संसार है । कर्म के सुधार से मनुष्य-जीवन का सुधार हो सकता है । सो इनके पश्चात् उन्हीं के सिद्धान्तों का निरादर होने लगा ।

बुद्ध के पश्चात् महानुभाव शङ्कर का आविर्भाव हुआ। गुरुकुल से विद्याव्रत स्नातक होकर निकले ही थे कि वैदिक धर्म के विरुद्ध मत का प्रचार देखकर मन में खेद का संचार हुआ। तत्काल ही उसकी निवृत्ति और पुनः वैदिक धर्म की प्रवृत्ति का उपाय सोचने लगे। प्रसन्नता से ओजस्वी शङ्कर सन्यास ग्रहण करके लोकोपकार में यत्न करने लगे। सत्य है—

**उदारवृत्तिविशिष्टाः परदुःखप्रहाणाय कृत-
प्रयत्ना भवन्तीति नेतरो जनः ।**

अब विचारना यह है कि जिस वेदान्त की शिक्षा ने शङ्कर को परोपकार करने के लिये उद्यत किया और आलस्य और प्रमाद को त्याग कर आजीवन वैदिक-धर्म के प्रचार के लिये यत्न करते रहे, कितने शोक की बात है कि आज उनके अनुयायी उसी वेदान्त शास्त्र को पढ़ कर, आलस्य और प्रमाद में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परहित चिन्ता तो दूर रही, अपकार की ओर उलटा संसार को लगा रहे हैं। उन्होंने बताया था कि 'वेदं नित्यमधीयताम्' अर्थात् वेदों का स्वाध्याय नित्यप्रति करना चाहिए। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा था कि साधन-चतुष्टय के अनन्तर अर्थात्

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व इन साधनों के पश्चात् ब्रह्म के साक्षात्कार का प्रयत्न करना चाहिये । अब अपने आप को शङ्कर का अनुयायी कहने वाले सम्पूर्ण साधनों को त्याग कर स्वयमेव ब्रह्म बन बैठे । उपकार कसे हो सकता है जब कि उपकार के साधन उपस्थित ही नहीं हैं ।

आज से कुछ काल पहले जब कि एक भयङ्कर समय आ उपस्थित हुआ था, एक ओर ईसाई मत का प्रचार और दूसरी ओर इसलाम का विस्तार प्रबल वेग से हो रहा था, ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव ठाक उसी समय हुआ । बाल्यावस्था से ही उन पर उदारवृत्ति अपना शासन करने लगी । समय पाकर गृह का परित्याग कर दिया और लगातार जङ्गलों पर्वतों में परिभ्रमण करते हुए साधनों का संचय करते रहे । मृत्यु के भय से निर्भय होकर और ईश्वर का साक्षात् करके जिस अमूल्य धन का संचय किया था, उसका वितरण, और विपरीत मार्ग में प्रवृत्त हुए जनों को सन्मार्ग दिखलाने में यत्न करने लगे । अनेक विपत्तियों के आते हुए भी बड़े प्रबल वेग से पाखण्ड का खंडन करना ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया और आज्ञा दी कि सर्वथा वैर-विरोध निवारण करना तुम्हारा कर्त्तव्य होना चाहिये । उनकी शिक्षा

वेदादि सच्छास्त्रों के भाष्य से विदित ही है अर्थात् सत्य-वादी, सत्यमानी और सत्यकारी होना, अनुचित अभिमान का त्याग, उचित अभिमान होना और कल्याण का मार्ग ग्रहण करना । ठीक है—“सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः ।”

प्रिय पाठकगण ! कर्मरूपी धन को ऋषि ने आपके अधिकार में दिया है । तब तक हम उसकी रक्षा व वृद्धि कदापि नहीं कर सकते जब तक हम लोग उदार-आत्मा न हो लें, इसलिये सब सज्जनों को उदारवृत्ति वाला होने का प्रयत्न करना उचित है ।

आर्य सामाजिक पुस्तकें

१. भक्ति-दर्पण	[म० राजपाल]	१॥)
२. दयानन्द-प्रकाश	[स्वामी सत्यानन्द जी]	४॥)
३. उपनिषद्-प्रकाश	[स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती]	४॥)
४. ईश्वर-भक्ति	[स्वामी सर्वदानन्द जी]	१॥)
५. अमृत वर्षा	[म० नारायण स्वामी जी]	१॥)
६. धर्म का आदिस्त्रोत	[गंगा प्रसाद एम. ए.]	२)
७. गृहस्थ-जीवन रहस्य	[म० नारायण स्वामी जी]	२॥)
८. आर्य समाज क्या है	[स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती]	॥॥)
९. दर्शनानन्द ग्रन्थ-संग्रह	[विश्वनाथ एम० ए०]	२)
१०. प्रार्थना सुमन	[पं० चमूपति एम० ए०]	॥)
११. सन्ध्या रहस्य	,,	॥=
१२. वैदिक धर्म-आर्यसमाज- प्रश्नोत्तरी	[पं० धर्मदेव जी]	॥)
१३. बाल सत्यार्थप्रकाश	[प्रो० विश्वनाथ जी]	१)
१४. स्वामी श्रद्धानन्द	[पं० धर्मदेव जी]	१)
१५. गोकर्णानिधि	[महर्षि दशानन्द सरस्वती]	≡)
१६. सत्संग गुटका	[सन्ध्या-हवन तथा भजन]	≡)
१७. पुष्पांजली	[भजन पुस्तक २५वां संस्करण]	१)
१८. हारमोनियम पुष्पांजली	[परिवर्द्धित २६वां संस्करण]	२)
१९. आर्ष मनुस्मृति	[पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार]	२॥)
२०. आनन्द संग्रह	[स्वामी सर्वदानन्द जी]	२)

ऊपर लिखी सभी पुस्तकें तथा अन्य सभी प्रकार की पुस्तकें
मंगाने का पता :—

राजपाल एण्ड सन्स, नई सड़क, दिल्ली.